एक अनुरोध मतदाताओं से

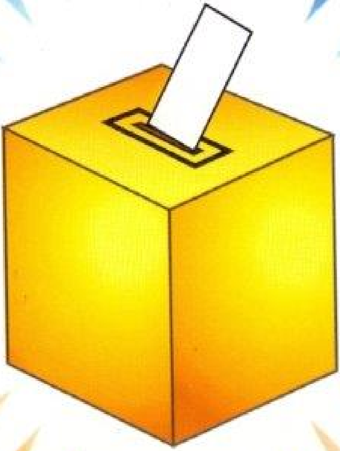

– श्रीराम शर्मा आचार्य

एक अनुरोध मतदाताओं से

✲

लेखक :
पं०श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं० २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१३ मूल्य : ९.०० रुपये

दो शब्द अपने आत्मीयों से

वर्तमान काल में राजनीति का प्रचंड प्रभाव सर्वत्र दिखलाई पड़ रहा है। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो राजनीति के प्रभाव से अछूता बचा हो। राजनीति के इसी व्यापक प्रभाव को ध्यान में रखकर हम दो संकलन प्रकाशित कर रहे हैं।

'हम राजनीति में भाग क्यों नहीं लेते' शीर्षक से प्रकाशित प्रथम पुस्तक में प० पू० गुरुदेव के उन लेखों का संग्रह है जो उन्होंने विशेष रूप से अपने परिजनों को ध्यान में रखकर लिखे हैं। अत: इस संकलन को प्रत्येक परिजन अवश्य पढ़ें और उसमें व्यक्त विचारों पर चिंतन-मनन करते हुए उन्हें हृदयंगम करने का प्रयास करें। वर्तमान भ्रमित करने वाले वातावरण में उसके दूषित प्रभाव से अपने को मुक्त रखने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रस्तुत दूसरा संकलन जन सामान्य के लिए है। अपने देश में प्रजातंत्रीय शासन पद्धति है। प्रजातंत्र का मेरुदंड सामान्य वोटर होता है। इसकी सफलता-असफलता सामान्य वोटर की विवेकशीलता पर निर्भर करती है। अत: वोटर की विवेकशीलता को जगाया जाना हमारा परम पुनीत राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। वोटर की विवेकशीलता को जाग्रत करने के उद्देश्य से ही इस संकलन को तैयार किया गया है।

अत: अनुयाज प्रक्रिया के 'राष्ट्र सेवा मंदिर' कार्यक्रम के अंतर्गत यह पुस्तक घर-घर पहुँचाई जाए। शिक्षितों को इसे पढ़ने और समझने के लिए प्रेरित किया जाए। अशिक्षितों को इसमें व्यक्त विचारों से अवगत कराकर उनमें अपने वोट रूपी अधिकार का उचित एवं विवेकपूर्ण प्रयोग करने का भाव जगाया जाए। प्रजातंत्र में अपने मताधिकार का प्रयोग भय-प्रलोभन आदि में आकर करना अथवा अपने इस संविधान प्रदत्त अधिकार का उपयोग ही न करना—दोनों ही अक्षम्य राष्ट्रीय नैतिक अपराध हैं। इस अपराध से मुक्त राष्ट्रीय समाज की रचना करने की दिशा में हमारे सभी परिजनों के पग बढ़ें, यही हमारी उनसे अपेक्षा है। ◎

हमारा संविधान और लोकतंत्र

२६ जनवरी १९५० को हमारा संविधान लागू हुआ। यह पूर्णतः गणतंत्र पर आधारित है। इसमें जाति, धर्म, मूल, वर्ग, भाषा आदि का कोई भेदभाव नहीं है। सब नागरिक पूर्ण स्वतंत्र हैं और स्वेच्छानुसार कोई भी धर्म अपना सकते हैं। सबको समान अधिकार हैं और सबके कर्त्तव्य समान हैं। धर्मनिरपेक्ष समाजवादी सिद्धांत को हमने अपनाया है। इसमें लोकमत के आधार पर निश्चित समय में चुनाव होते हैं। इस तरह केंद्र में संसद एवं राज्यों में विधान मंडलें बनती हैं। ये राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका को हमारे संविधान के अनुसार पूरी स्वतंत्रता मिली हुई है और वे अपने आदर्शों के अनुकूल निष्पक्ष कार्य करते हैं। मुख्य चुनाव अधिकारी सब चुनाव संपन्न कराता है जिसकी सहायता क्षेत्रीय चुनाव अधिकारी एवं प्रांतीय सरकारें करती हैं।

हमारे देश में हुए अब तक के सभी निर्वाचनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत में एक सशक्त और निष्पक्ष लोकतंत्र की संभावनाएँ हैं। जनता उपयोगी न समझने पर प्रचंड बहुमत वाली पार्टी को भी गिरा देती है और उपयोगी होने पर अल्पमत वाले दल को सत्तासीन कर देती है। परंतु आज आम मत या लोकमत स्पष्ट नहीं है। यह सत्ता लोलुप पूंजीपतियों व महत्त्वाकांक्षियों से प्रभावित है। इससे भारत में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं और अराजकता फैल रही है। कुशासन, भ्रष्टाचार, अलगाववाद, जातिवाद एवं कट्टरता बढ़ रही है। इस पर शीघ्र काबू न पाया गया तो हमारे यहाँ का प्रजातंत्र एक मजाक एवं असफल बनकर रह जाएगा। अतः अधिनायकवाद के प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हमें मुक्त होना ही पड़ेगा। इस हेतु संविधान एवं निर्वाचन प्रणाली में आवश्यक सुधार

करने होंगे, राजनीतिज्ञों एवं शासक वर्ग को आदर्श बनाना होगा। जरूरी है कि सरकार न्यायपालिका और विधायिका के कार्यों में कोई दखलंदाजी न करे। सभी नियुक्तियाँ शासन द्वारा गुणों के आधार पर निष्पक्ष रूप से हों।

संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, धर्म निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक हमारे गणतंत्र की पूर्ण रक्षा हमें उन्हीं आदर्शों के रूप में करनी चाहिए। एकता, अखंडता, मानवी गुण संपन्नता, प्रेम, भाईचारा, त्याग एवं आदर्शनिष्ठा को कायम रखने के लिए एक जुट होकर, नि:स्वार्थ व निष्पक्ष भाव से कार्य दृढ़तापूर्वक करने होंगे। सर्वप्रथम विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका पूर्णत: सौहार्दपूर्वक निष्पक्ष कार्य करें और कोई दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करे। गरीबी, बेकारी, असमानता, भ्रष्टाचार एवं अभावों से मुक्ति इसी प्रकार मिलेगी। राजनीतिक दलों, धर्मोपदेशकों एवं सब लोगों को मिलकर आम लोगों की भलाई के लिए काम करना चाहिए। स्वार्थपरता, मनमानापन, संघर्ष एवं संकुचित विचारधाराओं को सब त्याग दें। संसद, विधान मंडलों, स्वायत्त संस्थाओं, निगमों एवं शासक दल में सिर्फ उच्च गुणों से संपन्न लोगों को ही अधिकारी बनाया जाए और चुनाव में खड़े होने दिया जाए और उससे छेड़छाड़ न की जाए।

लोकतंत्र सफल हो, इसके लिए हमारे यहाँ राजनीतिक दलों पर इंग्लैंड, अमेरिका और फ्रांस के समान नियंत्रण होना आवश्यक है। सरकार चुनाव लड़ने का पूरा खरच उन्हें दे एवं सभी आवश्यक चुनाव प्रचार सामग्री, भाषण-प्रसारण एवं अन्य गतिविधियों में इग्लैंड और अमेरिका के समान ही सहयोग दे। इससे वे दानदाताओं से (करोड़ों के) दान नहीं ले सकेंगे, आय-व्यय का आकलन कराएँगे, आयकर एवं संपत्तिकर आदि की चोरी एवं राजनीतिक भ्रष्टाचार बंद होगा।

निर्वाचन आयोग को पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए। उसका संगठन, कार्यालय, नियुक्तियाँ एवं कार्यप्रणाली हर प्रकार से सरकार एवं राजनीतिज्ञों के प्रभावों से मुक्त होने चाहिए। वर्तमान में प्रधानमंत्री

मुख्य निर्वाचन अधिकारी की नियुक्ति करता है और उसका संगठन व क्रिया प्रणाली विधि मंत्रालय की इच्छा के अनुसार होता है। यह शासकदल की ओर से पक्षपात है। अतः सब दलों की अनुमति से इसकी नियुक्ति होनी चाहिए। इससे सबका विश्वास इसमें बढ़ेगा और यह पूर्ण स्वतंत्रता से निष्पक्ष चुनाव कराने में समर्थ होगा। तभी भारतीय लोकतंत्र समर्थ-सशक्त बनेगा।

मतदाता अपनी शक्ति को पहचानें

प्रजातंत्र को संसार के वर्तमान शासन तंत्रों में से सर्वश्रेष्ठ कहा जाए तो यह उचित ही होगा। प्रजा को अपनी मर्जी की सरकार बनाने, अपनी सुविधा की व्यवस्था करने तथा अपनी रुचि का भविष्य निर्माण करने की सुविधा हो तो यह निस्संदेह बड़े संतोष की बात है।

व्यक्ति को अपनी अभिव्यक्तियाँ और अभिव्यंजनाएँ प्रकट करने का अवसर मिले और वह लेखनी-वाणी से लेकर भाषा एवं धर्म-कला आदि को अपनी मान्यता के अनुसार व्यवहृत कर सके ऐसी सुविधा प्रजातंत्र ही देता है। अन्य शासन तंत्रों में यह सुविधा कहाँ है? राज्यतंत्र में राजा की और अधिकनायकवाद में डिक्टेटर की मरजी चलती है। प्रजा की इच्छाएँ दबी पड़ी रहती हैं। उभरती हैं तो अभिव्यक्तिकार सहित वे कुचल दी जाती हैं। यह सुविधा प्रजातंत्र में ही है कि वर्तमान से लेकर भविष्य तक के निर्माण को प्रजा अपनी अभिरुचि और क्षमता के अनुरूप विनिर्मित कर सकने में समर्थ हो सकती है।

प्रजातंत्र जहाँ जनता को इतनी सुविधाएँ देता है और आत्मनिर्माण का अधिकार देता है, वहाँ उसके ऊपर कर्त्तव्यों की जिम्मेदारी भी कम नहीं डालता। यदि प्रजाजन अपने मत का मूल्य और मतदान की जिम्मेदारी ठीक तरह न समझें तो इस बात का खतरा पूरी तरह बना रहेगा कि अवांछनीय व्यक्ति उन्हें बहका कर उनकी जेब काट लें और निर्माण का जो महान अधिकार उनके हाथ में था, उन्हें नगण्य से प्रलोभन, हेय से भावावेश तथा बाजीगर जैसे बहकावे में उलझा कर

मत पत्र को झपट ले जाएँ। ऐसी दशा में धूर्त व्यक्ति ही चुनें जा सकेंगे और मूर्ख मतदाता सदा अपनी दुर्दशा का रोना रोता रहेगा। उसके लिए उत्तम शासन व्यवस्था एवं सुविधाजनक समाज की उपलब्धि आकाश कुसुम की तरह मात्र कल्पना की वस्तु बनी रहेगी।

प्रजातंत्र शासन पद्धति में राष्ट्र का स्वामित्व उन नागरिकों के हाथ चला जाता है जिन्हें मतदान का अधिकार प्राप्त है। उन्हें बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से इतना समर्थ होना चाहिए कि वे गंभीरतापूर्वक यह समझ सकें कि उन्हें न केवल अपने वरन समस्त राष्ट्र के भाग्य को बनाने बिगाड़ने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार की पवित्रता और महत्ता को जितना अधिक गहराई से सोचा जाए उतना ही यह प्रतीत होगा कि मतदाता की जिम्मेदारी प्रकारांतर से लगभग वैसी ही है जैसी कि किसी राष्ट्र के शासनाध्यक्ष की होती है। सच तो यह है कि यह इससे भी बड़ी है, क्योंकि शासनाध्यक्ष तो केवल चुने हुए प्रतिनिधियों की मरजी की ही व्यवस्था बना सकता है और संविधान के अनुरूप ही कुछ कदम उठा सकता है। वह भी बंधनों में बँधा रहता है इसलिए अपनी मरजी एक सीमा तक ही चला सकता है। पर मतदाता पर इस प्रकार का अंकुश नहीं है। वह अपनी मरजी के ऐसे प्रतिनिधि चुन सकता है जो उसकी सुविधा जैसी सरकार बनाएँ। इसी प्रकार चुनाव पत्र द्वारा यह अधिकार भी उसके हाथ रहता है कि अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से यदि पिछला संविधान अनुपयुक्त हो तो उसे सुधारे या बदले दे। क्रिया में भले ही शासनाध्यक्ष अधिक समर्थ हो पर शासनाध्यक्षों की नियुक्ति से लेकर नीति निर्धारण संबंधी सारी व्यवस्था का सूत्र संचालन परोक्ष रूप से मतदाता के पास ही रहता है। इस दृष्टि से प्रजातंत्र की मूल शक्ति और मूल संभावना मतदाता के हाथों में ही रहने से सर्वोपरि अधिकारी उसे ही माना जा सकता है। इस तथ्य का अनुभव जितनी गहराई से किया जाने लगेगा, इस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए जितनी दूरदर्शिता का परिचय दिया जा सकेगा, प्रजातंत्र से प्रजा उतनी ही अधिक लाभान्वित होगी।

जहाँ यह लाभ है वहाँ हानि भी कम नहीं है। यदि मतदाता अबोध या अनुत्तरदायी हों तो वे मतदान को मात्र खिलवाड़ समझेंगे और जिस तरह खेल-कूद में बच्चे किधर भी गेंद फेंक देते हैं या पानी उछाल देते हैं उसी तरह कभी भी अपने हाथ में आई इस पवित्र धरोहर को ऐसे हाथों में सौंप देंगे जिनके द्वारा विनाश और विपत्ति का ही सृजन हो सकना संभव है।

यह कथा भूलने की नहीं है कि एक राजा ने रखवाली के लिए बंदर पाला और सोते समय देखभाल करने का काम सौंप दिया। राजा सोया, उसकी नाक पर मक्खी बैठी, बंदर ने पास में पड़ी तलवार उठाई और मक्खी पर चलाई। मक्खी तो उड़ गई पर राजा की नाक कट गई। नासमझी के कारण बंदर भी तिरस्कृत हुआ और राजा की नाक भी चली गई। प्रजातंत्र में मतदाता की नासमझी उपरोक्त बंदर की अज्ञानता से भी अधिक खतरनाक है। यदि वह अपना मतपत्र अवांछनीय हाथों में सौंप देता है तो समझना चाहिए अपनी तिजोरी की चाबी डाकू के हाथों सौंप देने जैसी भूल कर दी गई। प्रजातंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर है कि मतदाता राष्ट्र की समस्याओं के प्रति कितना सजग है और उन्हें सुलझा सकने के लिए अपने हाथों में उपस्थित 'मतदान के अधिकार' का कैसी सूझ-बूझ के साथ उपयोग करता है। इस उपयोग में चूक होती रहे तो फिर यही कहा जाएगा कि यह शासन पद्धति जितनी अच्छी है उतनी ही बुरी भी है। मूर्खता का लाभ धूर्तता उठाती रही है। मतदान के समय भी यही स्थिति रहे तो समझना चाहिए कि जो लोग चुने जाने वाले हैं वे राष्ट्रीय हित साधन की अपेक्षा अपना हित साधन करेंगे और उसका परिणाम समस्त समाज को भुगतना पड़ेगा। इस बुराई से बचने और बचाने के लिए मतदाता का दूरदर्शी और उत्तरदायी होना नितांत आवश्यक है।

इससे पहले प्रजातंत्र चलाने का अवसर अपने देशवासियों को चिरकाल से नहीं मिला। प्राचीन काल की बात अलग है। कम से कम पिछली अनेक शताब्दियों से तो इस प्रकार की

शासन व्यवस्था चलाने का अधिकार प्रजा को मिला ही नहीं। सो उस तरह का न तो अभ्यास हुआ न अनुभव मिला। पाश्चात्य देशवासी बहुत दिनों से इस अधिकार का उपयोग कर रहे हैं जबकि अपने देश में थोड़े ही समय से इसका वास्तविक लाभ मिला है। फिर प्रजा अशिक्षित भी है और पिछड़ी हुई भी। इसलिए उससे शासन तंत्र चला सकने की जिम्मेदारी के प्रतीक मतदान के महत्त्वों और दूरगामी परिणामों को अनायास ही हृदयंगम कर लेने की आशा नहीं की जा सकती।

ऐसी दशा में मत का दुरुपयोग ही हो सकता था और हो भी रहा है। फलस्वरूप प्रजातंत्र के लाभ हमें मिल नहीं पा रहे हैं। कई बार तो लोग वर्तमान शासन व्यवस्था की तुलना में पिछली विदेशी पराधीनता के दिनों को इससे अच्छा कहने लगते हैं।

आज की अस्त-व्यस्त शासन व्यवस्था तथा समाज में चल रहे अतिरिक्त प्रजातंत्र के लाभ हमें मिल नहीं पा रहे हैं। कई बार तो लोग वर्तमान शासन व्यवस्था की तुलना में पिछली विदेशी पराधीनता के दिनों को इससे अच्छा कहने लगते हैं।

पत्तों को सूखते, फूलों को मुरझाते देखकर हमें जड़ में पानी पहुँचाने की बात सोचनी चाहिए। प्रजातंत्र की जड़ मतदान के खेत में उगती है। यदि वहाँ पानी नहीं है, समझदारी तथा दूरदर्शिता का अभाव है तो सही प्रतिनिधि नहीं चुने जा सकेंगे और फिर न सही शासन व्यवस्था बनेगी और न अनुकूलता की अभीष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी। गतिरोध के केंद्र बिंदु को समझा जाना चाहिए और यह अनुभव किया जाना चाहिए कि प्रजातंत्र का-प्रजातंत्र देश का असली मालिक मतदाता है। उसे प्रशिक्षित करने, वोट का उपयोग कर सकने लायक समझदार बनाने के लिए घनघोर प्रयत्न करना उन सबका कर्त्तव्य है जो देश को सुखी, समुन्नत एवं सुविकसित देखना चाहते हैं। मालिक की समझदारी पर घर-परिवार की सुव्यवस्था निर्भर रहती है और वोटर की समझदारी पर प्रजातंत्री देशों की प्रगति। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाए उतना ही अच्छा है।

आंदोलन नहीं, मतदाता ही वास्तविक सुधार ला सकते हैं

प्रगति की इन शताब्दियों में जो परिस्थितियाँ बदलती चली गई हैं उनने शासन के हाथों अपरिमित सत्ता सौंप दी है। अधिनायकवादी दशा में तो व्यक्तिमात्र एक मशीन बनकर रह गया है और आर्थिक ही नहीं बौद्धिक उपार्जन तथा उपभोग तक के सारे सूत्र शासन के हाथों चले गए हैं। वह करने के लिए ही नहीं, सोचने के लिए भी विवश है। शासन जैसा चाहता है वैसा उसे करना ही नहीं, ढलना भी पड़ता है। प्रजातंत्री देशों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उपयोग की छूट काफी रहती है फिर भी शासन की सामर्थ्य और परिधि में निरतंर वृद्धि ही होती चली जाती है।

शिक्षातंत्र पूर्णतया सरकार के हाथ में है। वह चाहे जैसी शिक्षा पद्धति बना सकती है और उससे भावी पीढ़ियों के चिंतन तथा कर्तृत्व का निर्माण कर सकती है। अर्थतंत्र धीरे-धीरे उसी के हाथों में सिमिटता जाता है। उत्पादन टैक्स, इनकम टैक्स, बिक्री टैक्स, अन्य टैक्स, प्रतिबंध, आयात-निर्यात, मुद्रा विस्तार आदि कितने ही सूत्र ऐसे हैं जिनसे व्यक्ति की आजीविका और निर्वाह सुविधा पर सीधा असर पड़ता है। वस्तुओं का मंहगा-सस्ता होना, उद्योग और व्यवसाय का सुकड़ना-फैलना बहुत कुछ शासकीय अर्थनीति पर निर्भर रहता है। सामाजिक परिस्थितियाँ जिनमें अपराधों से लेकर परंपराओं तक, भाषा से लेकर साहित्य एवं फिल्म जैसे प्रभावशाली क्षेत्रों तक की गतिविधियों को शासन ही निर्धारित और नियंत्रित करता है। विस्तार से चरचा करने के स्थान पर इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि धीरे-धीरे जीवनयापन और परिस्थितियों का सारा सूत्र राज्य सत्ता के हाथों में ही चला जा रहा है। भविष्य में शासन का प्रभाव और अधिकार क्षेत्र घटने वाला नहीं, बढ़ने ही वाला है।

व्यक्तिगत जीवन के आंतरिक और बाह्य स्वरूप का निर्धारण करने में अब भी शासन की भूमिका अद्‌भुत है। आगे वह और भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करेगी। सामाजिक

परिस्थितियों, लोक-चिंतन, जन कर्त्तव्य एवं दिशा निर्धारण में शासन की मर्जी बहुत प्रभावशाली सिद्ध होगी। रेडियो सीधा सरकार के नियंत्रण में है। अखबारों पर परोक्ष नियंत्रण रहता है। साहित्य की जिस दिशा में भी चाहे ऋण-अनुदान आदि की सुविधा देकर आगे बढ़ा सकता है। निरुत्साहित करने के तो हजार तरीके उसके हाथ में हैं जिनसे चाहे तो चिंतन की उन दिशाओं को निरुत्साहित कर सकता है जो अनुपयुक्त हैं। फिल्म जैसे प्रभावशाली कलामाध्यम उसका इशारा पाते ही कठपुतली की तरह इस प्रकार नाचना छोड़कर उस तरह नाचना आरंभ कर सकते हैं। अन्य देशों से संबंध और उनके प्रभाव, सुरक्षा के प्रश्न आदि के परिणाम किसी देश के लिए कम महत्त्व के नहीं हो सकते। यह सब महत्त्वपूर्ण बातें सरकारी नियंत्रण में चली गई हैं या धीरे-धीरे चली जाएँगी। निस्संदेह शासन का महत्त्व अधिकाधिक होता जाएगा और जन साधारण को क्रमशः हर बात में उस पर निर्भर रहना पड़ जाएगा। व्यक्तिगत रूप से भी कुछ तो किया ही जा सकता है पर जो कुछ प्रभावशाली कदम उठाए जाएँगे उनमें शासन का सहयोग आवश्यक होगा। अन्यथा व्यक्तिगत प्रयत्न जीवित भर रहेगा, प्रतिरोधों से बचाव और प्रगति के प्रोत्साहन की जब तक अनुकूलता न होगी कुछ अधिक काम न बन सकेगा।

शासन सुधार के लिए भी कई तरह के प्रयोग और आंदोलन चलते रहते हैं, और उनका कुछ न कुछ लाभ-उपयोग होता ही है, पर वे प्रयोग परिवर्तन नहीं ला सकते, मात्र हलचल पैदा कर सकते हैं और तुक बैठ जाए तो कुछ छुटपुट सुधार भी करा सकते हैं। उससे आगे की उनकी पहुँच नहीं है। अखबारों में लेख, सभाओं में भाषण और प्रस्ताव, हस्ताक्षर आंदोलन, विरोध प्रदर्शन, अनशन, सत्याग्रह जैसे क्रिया कलाप, जनता की ओर से विविध संस्थाओं-संगठनों द्वारा समय-समय पर काम में लाए जाते रहते हैं। पर देखा गया है कि उसका प्रभाव स्वल्प ही होता है। सरकार की शक्ति और मशीन इतनी मजबूत है कि छुट-पुट आंदोलन उसका कुछ

नहीं बिगड़ सकते और वह किसी बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाले तो फिर उस विरोध को कम से कम तत्काल तो असफल कर सकती है। लाठी, गोली, गिरफ्तारी ही नहीं, प्रलोभन, फूट और गुप्तचरी के माध्यम से उन प्रयोगों को बिखेर भी सकती है। दूरगामी परिणाम जो भी हों सरकार के पास इतनी शक्ति तो रहती है कि तत्काल तो किसी आंदोलन को अस्त-व्यस्त कर ही दे। सुधार के लिए आंदोलनों का महत्त्व कम नहीं किया जा रहा है। बात केवल यह कही जा रही है कि शासन में जिस मूल स्रोत से विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं यदि उसे गहराई तक न समझा गया और परिवर्तन के केंद्र बिंदु की ओर ध्यान न दिया गया तो स्वच्छ और श्रेष्ठ शासन न मिल सकेगा और उनके बिना अति महत्त्व की समस्याओं के समाधान तथा अवरोधों का निराकरण संभव न हो सकेगा।

कहा जा चुका है कि प्रजातंत्र का मूल है—वोटर का मतदान। शासन का स्वरूप यहीं से निर्धारित होता है। आधार जैसा होगा स्वरूप वैसा ही बनेगा। चिकनी मिट्टी और बालू-रेत के बने खिलौनों में अंतर रहेगा ही। बाजरे की और गेहूँ की रोटी का स्वाद एक जैसा नहीं हो सकता। कपास और रेशम के बने वस्त्रों के अंतर प्रत्यक्ष दीखते रहेंगे। वोटर जिस स्तर के होंगे प्रतिनिधि उसी स्तर के चुने जाएँगे और निर्वाचितों की मनोवृत्ति तथा चरित्रनिष्ठा पर शासन का स्वरूप निर्धारित होगा और उस स्वरूप के आधार पर वे परिस्थितियाँ बनेंगी जो जन साधारण को प्रभावित करती हैं। सुधारों का मूल केंद्र यही है। बिगाड़ भी यहीं से आरंभ होता है। वोटरों में यदि वोट के स्वरूप, उत्तरदायित्व और परिणाम के बारे में दूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण विकसित न हो सका तो गुड़ गोबर ही होता रहेगा। बालू में से तेल निकालने की तरह अन्य सारा सुधारात्मक प्रयोग-प्रयोजन एक प्रकार से निरर्थक ही सिद्ध होता रहेगा।

'हमें अपने मालिकों को शिक्षित करना चाहिए' आंदोलन के अंतर्गत प्रत्येक विचारशील, बुद्धिजीवी, देशभक्त और परिवर्तनवादी को इस एक केंद्र पर केंद्रीभूत होना चाहिए कि वोटर को उसे

उपलब्ध वोट की पवित्रता तथा महत्ता को समझाएँगे और उस प्रक्रिया को उस हद तक पहुँचाएँगे कि जाति-बिरादरी के नाम पर, नशा, सवारी, मिठाई, खुशामद जैसे प्रलोभनों के नाम पर, बड़े लोगों को बगल में लेकर उनके द्वारा मतदाताओं को घसीट लाने के नाम पर अब तक जिन लोगों को चुनाव में सफलता मिलती रही अब उन्हें न मिलेगी। व्यक्तिगत एवं क्षेत्रीय सुविधा की मांग कोई वोटर न करेगा और न अनुचित सिफारिश कराके कोई किसी से अनुचित कार्य कराना चाहिए। इन प्रलोभनों को त्यागकर मतदाताओं को एक नैतिक शक्ति के रूप में उभरना होगा और जो व्यक्ति चरित्र, भावना, योग्यता एवं समाज निष्ठा की दृष्टि से हर कसौटी पर खरे उतरते हैं, उन्हें ही वोट देना होगा। प्रलोभन, बहकावा एवं आतंक से मुक्त होकर वोट देने का निश्चय यदि जनता करले तो समझा जाना चाहिए कि आए दिन शासन की जो शिकायत करनी पड़ती है, उसका चिरस्थाई अंत हो गया।

आज तो लाख खरच करके दस लाख कमाने का जुआ खेलने वाले ही इस क्षेत्र में उतरने की हिम्मत करते हैं। चुनाव लड़ने और जीतने का साहस ईमानदार और गरीब लोग कहाँ कर पाते हैं। उनके पास संपन्न लोगों जैसे साधन कहाँ है जिनसे भ्रष्ट वोटरों को बरगलाना संभव हो सके। इस स्थिति को बदलने के लिए एकमात्र तरीका यही है कि चुनाव में खड़े होने वाले पर खरच का कोई भार न पड़ने दिया जाए। कुछ पड़ता हो तो उसे वोटर ही मिल-जुलकर पूरा करें अन्यथा प्रतिनिधि इतना खरच जेब में से करने के बाद ईमानदार कैसे रह सकेंगे? जिसे वोट दिया जाना है उसके चरित्र, विचार और निर्धारण को हजार बार हर कसौटी पर परखने के बाद ही वोट देने के लिए यदि मतदाता तैयार हो सकें तो निस्संदेह एक ऐसी राजक्रांति उत्पन्न हो सकती है जिसके अंतर्गत स्वच्छ और श्रेष्ठ शासन से सर्वसाधारण को लाभान्वित होने का अवसर मिल सके और प्रजातंत्र की उपयोगिता खरी सिद्ध होती रह सके।

प्रजातंत्र की सफलता वोटरों के परिष्कृत दृष्टिकोण पर निर्भर है

प्रजातंत्री देश के हर नागरिक के मन में यह महत्त्व और गौरव जगाया जाना चाहिए कि वस्तुतः वही अपने देश-राष्ट्र का भाग्य निर्माण कर्ता है। उसके हाथ में मतदाता का ऐसा अस्त्र है जिसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर देश की प्रगति एवं अवनति की आधार शिला रखी जाती है। वोट को खिलवाड़ समझना अपने नागरिक कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व की गरिमा को अस्वीकार करना है। इसे राष्ट्र की बहुमूल्य थाती समझना चाहिए जिसे केवल सत्पात्रों के हाथ में ही स्थानांरित किया जाना उपयुक्त है। किसी दुराचारी-अनाचारी के हाथ में सत्ता चले जाने पर उसका दंड सारे समाज को भुगतना पड़ता है और उसका दोष उस अविवेक के ऊपर आता है जिससे वोट देते समय तुच्छ स्वार्थों को ही ध्यान में रखा गया और राष्ट्रीय भविष्य की चिंता को उपेक्षा में डाल दिया गया।

राष्ट्रीय चिंतन के केंद्र बिंदु वोटर की मन:स्थिति को ऊँचा करने का प्रयास होना चाहिए। हमें जड़ सींचनी चाहिए और पत्तों की स्थिति पर उतनी उधेड़बुन नहीं करनी चाहिए। सरकार के किन्हीं क्रिया कलापों पर विरोध करने से क्या काम चलेगा? प्रश्न तो पूरे सरकारी तंत्र का ही है। उसके लिए किन्हीं व्यक्तियों को, चुने हुए प्रतिनिधियों को दोष देना भी बेकार है। जनता की मन:स्थिति जब तक ऊँची नहीं उठेगी, ऊँचे व्यक्तियों का वहाँ तक पहुँचना संभव ही नहीं हो सकता। अच्छे लोग केवल उसी क्षेत्र में चुने जा सकते हैं जहाँ वोटरों का दृष्टिकोण परिष्कृत है। सरकार के किसी क्रिया कलाप पर अफसर-अधिकारी से झगड़ना काफी न होगा। एक विरोध सुलझ नही पाएगा तब तक दूसरी नई बात सामने आ जाएगी। ऐसे एक-एक बात को लेकर, एक-एक व्यक्ति को लेकर झगड़ते रहा जाए तो उस उखाड़-पछाड़ का कभी अंत ही न होगा। उस प्रकार के आंदोलनों से कोई छुट-पुट सामयिक समस्याएँ ही सरल या हल हो सकती हैं, मूल प्रयोजन हल नहीं हो सकता। सरकारी मशीन की उत्कृष्टता शासन तंत्र के संचालकों पर निर्भर

है। वे अपने पद, स्वार्थ, लाभ की बात को आगे रखकर शासन न चलाएँ तो सरकारी मशीनरी को झक मारकर भलमानसाहत की राह देखनी पड़ेगी।

भ्रष्टता नीचे से ऊपर को भी चलती और ऊपर से नीचे को भी। नीचे से ऊपर तब चलती है जब वोटर ओछे कामों को प्रमुखता देकर, ओछे व्यक्तियों को वोट देता है और यह नीचे स्तर का ओछापन ऊपर तक चला जाता है। इस आधार पर चुनी हुई सरकार ठीक उसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है जैसा कि वोटर था। ऊपर से नीचे भ्रष्टाचार इसलिए चलता है कि जब संचालकों को भ्रष्ट तरीके अपनाते हुए नीचे के अफसर प्रत्यक्ष देख लेते हैं तो उन्हें उसी राह चलने पर कोई झिझक, लज्जा, संकोच करने का कारण प्रतीत नहीं होता। सत्ताधारी अपना स्वार्थ अफसरों के माध्यम से करते हैं और वे अफसर फिर ऊपर वालों की कमजोरी का लाभ उठाकर स्वच्छंद अनाचार करने में और भी आगे निकल जाते हैं। भ्रष्टाचार में बहुत करके ऐसा ही क्रम चलता है। यों अपवाद भी होते हैं। श्रेष्ठ संचालकों की गैर जानकारी में नीचे का भ्रष्टाचार भी पनप सकता है और उसमें सत्ताधारी निर्दोष भी हो सकता है। पर अधिकतर मिलीभगत से ही तालमेल बैठता है। सरकारी मशीन में भ्रष्टाचार की ऊपर से नीचे तक शृंखला पाई जाती है। परस्पर बटवारे से भी वह अवांछनीय धन डाकुओं के बटवारे की तरह हर एक के हिस्से में बटता रहता है।

इस स्थिति में सुधार तो सरकार में उच्च स्तरीय आदर्शवादिता का समावेश होने से ही संभव है। इसराइल, क्यूबा जैसे छोटे-छोटे देश यह आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं तो वहाँ सरकारी मशीन में कहीं छिद्र नहीं मिलेंगे। जिन दिनों ब्रिटिश सरकार ने आरंभ में ही कांग्रेस के हाथों में सत्ता सौंपी थी उन दिनों सारा शासनतंत्र हिल गया था और भ्रष्टाचारी दहल गए थे, सन्न रह गए थे। यदि वह स्थिति यथावत बनी रहती तो आज हमारा स्वरूप कुछ और ही रहता। सरकारी मशीन की ईमानदार-तत्परता हमें अब तक न जाने कितना ऊँचा उठाने में सफल हो गई होती। साधन प्रचुर, योजनाएँ सुंदर,

फिर भी बात कुछ बन नहीं पाती, इसका दोष किसे दिया जाए? मक्खी-मच्छरों पर हमला करना बेकार है। किसी अफसर, अधिकारी, मंत्री या सरकार पर लांछन लगाना बेमतलब है। दोष का मूल ढूँढ़ना चाहिए और यदि मक्खी-मच्छर का काटना बुरा लगता है तो हमें कीचड़ साफ करनी चाहिए। कीचड़ साफ करने का मतलब है वोटरों की अदूरदर्शिता को निरस्त करना। राष्ट्र का भविष्य निश्चित रूप से इस बात पर ही निर्भर है कि वोटर अपने उत्तरदायित्व को किस हद तक समझने लगा और उसका सहयोग या साहस किस हद तक जागृत हो गया। प्रजातंत्रीय शासन का असली मालिक और असली सृष्टा वोटर ही तो है। यदि वह गई-गुजरी मन:स्थिति में पड़ा रहेगा तो फिर शासन के स्वरूप में उत्कृष्टता का समावेश कैसे संभव होगा?

आमतौर से एक राजनीतिज्ञ पार्टी दूसरे पर आरोप लगाती रहती है। अपने को अच्छा और दूसरे को खराब बताने की, सिद्ध करने की चेष्टा खूब होती है और परस्पर कीचड़ उछालने का सिलसिला निरंतर चलता है। जिस पार्टी की सरकार होती है प्रस्तुत क्रियाकिलापों का उत्तरदायित्व उसी का होता है, सो जहाँ गड़बड़ी उत्पन्न हो वहाँ निंदा करने का अवसर भी मिल जाता है और इस प्रकार आलोचना-प्रत्यालोचना होती भी खूब है। प्रस्तुत शासन तंत्र की आलोचना-निंदा इस आधार पर होती ही रहती है। अपना चिंतन भिन्न है। हम इन आलोचनाओं को दूसरों पर छोड़ देते हैं।

इस लेख का प्रयोजन वोटरों की मन:स्थिति को परिष्कृत करना है, सत्ताधारियों की आलोचना करना या उन पर आक्षेप लगाना नहीं। वस्तुतः उनका कसूर भी बहुत नहीं है। दूध में से ही तो उभर कर मलाई ऊपर आती है। जैसा दूध होगा वैसी ही मलाई होगी। जैसी फूल की गंध होगी उसी के अनुरूप तो इत्र बनेगा। जनता की मन:स्थिति की तुलना दूध और फूल से करनी चाहिए और चुने हुए प्रतिनिधियों को मलाई या इत्र कहना चाहिए। इत्र को गाली देना बेकार है। आपको जैसी गंध पसंद है उसी तरह के फूल इकट्ठे कीजिए। इत्र आपकी नापसदगी का नहीं

पसंदगी का प्रस्तुत हो जाएगा। वोटर का दृष्टिकोण यदि ऊँचा है तो कोई कारण नहीं कि किसी सरकार में उत्कृष्ट व्यक्ति न भरे हुए हों और जब आदर्शवादी तंत्र शासन चला रहा होगा तो कोई कारण नहीं कि सरकारी मशीन का सुधार या पुनः निर्माण न हो सके। यदि सरकारी कर्मचारी सही रीति से काम करते हैं तो कोई कारण नहीं कि प्रस्तुत राज्य व्यवस्था जनता की प्रगति एवं सुविधा में सहायक सिद्ध न हो।

बात घूम फिर कर वहीं आ जाती है। नींव पोली रहेगी तो दीवार फटेगी। जमीन में खार होगा तो वहाँ उगे हुए फलों में स्वादिष्टता नहीं हो सकती। वोटर घटिया ही बने रहें और शासन अच्छा बन जाए यह कैसे संभव हो सकता है? प्रजातंत्र में यह संभव नहीं। यदि अधिनायकवाद हो, जिसमें जनसाधारण के हाथ से शासन चलाने का उत्तरदायित्व छीन लिया जाता है और सर्वसाधारण को कठपुतली की तरह चलाने के लिए एक व्यक्ति या एक गिरोह सारी सत्ता अपने हाथ में केंद्रित कर लेता है, प्रजा को तब अपने समस्त मौलिक अधिकारों से वंचित होकर गड़रिए के निर्देश पर चलने वाली भेड़ों की तरह शासन के संकेतों का अनुसरण करना पड़ता है।

प्रबुद्ध प्रजा द्वारा सुनियोजित प्रजातंत्र ही अपना आदर्श और उद्‌देश्य पूर्ण कर सकता है। यदि प्रजा अपनी जिम्मेदारियों को नहीं समझती और उसका पालन ठीक तरह नहीं करती तो इस अनाड़ीपन का परिणाम देश में अव्यवस्था, अशांति और अराजकता जैसी विभीषिकाओं के साथ सामने आ उपस्थित होता है। तब अनाचार, भ्रष्टाचार, अपराध, आपाधापी की अनेक दुष्प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक और सामाजिक क्षेत्र में उमड़ पड़ती हैं, और लोगों को यह कहना पड़ता है कि प्रजातंत्र में मूर्खों का शासन होता है। ऐसी अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो जाने पर विद्रोह उस शासन प्रणाली को ही उखाड़ कर फेंक देता है और एक या दूसरे तरह का अधिकनायकवाद उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। हमें भलीभांति इस खतरे से परिचित होना चाहिए कि यदि वोटर का दृष्टिकोण परिष्कृत न

किया गया, यदि उसे वोट देने का उत्तरदायित्व समझाया न जा सका और ऐसे ही मत पत्रों के साथ मखौल की जाती रही तो उसकी प्रतिक्रिया ऐसे अधिनायकवाद के रूप में आ सकती है जिससे वोट देने का अधिकार वास्तविक रूप से लगभग चला ही जाता है, लकीर पिटती रहती है। जनता को अपनी अभिव्यक्ति घुमा-फिरा कर सरकार की इच्छा के अनुरूप ही व्यक्त करनी पड़ती है। यदि देर सबेर से यही स्थिति अपने देश में लानी हो तो ही वोटर के पिछड़ेपन को अछूता पड़े रहने देना चाहिए, अन्यथा यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसे उसकी गरिमा के अनुरूप ही प्रमुखता देनी चाहिए।

यों सभी वोटर एक से नहीं होते। विचारशील वर्ग जितना इस देश में है उसी अनुपात में वोटर भी कर्त्तव्यपरायण और दूरदर्शी हैं। पर यह बात अधिकांश पर लागू नहीं होती। इसमें कसूर उन वोटरों का भी नहीं, उस अशिक्षा का, यातायात के साधनों से रहित देहात के पिछडेपन का है जिसने मतदाता को प्रजातंत्र और मतदान के स्वरूप एवं उत्तरदायित्व को समझने से वंचित रखा। उस पिछड़ेपन की स्थिति में भी आवश्यक प्रकाश न पहुँचाने का कसूर उच्च वर्ग के हम लोगों का है जो यदि सच्चे मन से चाहते-पूरा ध्यान देते तो इस स्थिति में भी मतदाता में इस संदर्भ में आवश्यक जागरूकता उत्पन्न करने में बहुत हद तक सफल हो सकते थे।

भूल करते देर हो गई, अब उसे सुधारा और संभाला जाना चाहिए। विवेकशील व्यक्तियों को इसके लिए तत्पर होना चाहिए कि जहाँ तक पहुँच हो मतदाताओं को प्रजातंत्र का स्वरूप और उसके कर्त्तव्य-उत्तरदायित्व को समझाने का प्रयत्न करें। इसके लिए लेखनी, वाणी, विचार विनिमय के जितने भी तरीके काम में लाए जा सकते हों उन समस्त श्रव्य और दृश्य साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। "अपने मालिकों को जगाओ और समझाओ" आंदोलन में प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को परिपूर्ण उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए क्योंकि अपने प्रजातंत्रीय देश का भाग्य-भविष्य पूरी तरह इस अभिनव चेतना के अभिवर्द्धन पर ही निर्भर है।

राजनेता जन नेता बनकर दिखाएँ

स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जब स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने तो उन्हें भव्य मुगल उद्यान के मध्य निर्मित एक विशाल और भव्य 'वायसरीगल लॉज' में रहने के लिए कहा गया। घुटनों से भी ऊँची धोती पहनने वाले गाँधी के इस अनुयायी को यह बात कुछ जँची नहीं कि देश का जन सामान्य तो झोंपड़ी में रहे और वे विशाल वायसरीगल लॉज में। उन्होंने अपने मन की बात कही— "मेरे लिए तो एक साधारण सा मकान ही काफी है। इतने बड़े भवन की क्या आवश्यकता?" तब उन्हें तत्कालीन राजनेताओं ने बहुत समझाया कि इतने बड़े देश के राष्ट्रपति के लिए देश की शान के अनुरूप भवन में ही रहना ठीक होता है। इसमें देश की शान है। इस बात को उन्होंने अनमने ढंग से मान भी लिया। ज्यादा अड़ते तो लोग समझते कि उन्हें अपनी सादगी का प्रदर्शन करना है। बाहर से आने वाले अतिथि राजनेताओं और देश की मर्यादा समझ कर उन्होंने इसे आपद् धर्म की तरह स्वीकार कर लिया।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जैसे त्यागी-विरागी के लिए राष्ट्रपति भवन में रहते हुए भी अपनी सादगी का निर्वाह करना और उसके वैभव से अलिप्त रहना संभव भी था। वे महाराज जनक की तरह उसे भोगते हुए भी नहीं भोगते रहे। सभी जानते हैं कि राष्ट्रपति भवन में कभी वर्षों तक एक साधु रहा था। 'वायस रीगल लॉज' को ' राष्ट्रपति भवन' का नाम भी उन्हीं ने दिया था।

अच्छी वकालत, हजारों रुपयों की आय और सुख-सुविधाओं को छोड़ वर्षों तक स्वतंत्रता संग्राम में आने वाले कष्ट, कठिनाइयों और जेल जीवन के अभ्यास ने उन्हें तो उस ऊँचाई पर पहुँचा दिया था, किंतु आज के राजनेता तो उस स्थिति में नहीं होते। उनके मन में देश की सेवा की, निष्ठा की भावनाएँ तो हो सकती हैं, देश की सेवा करने के ध्येय से भी वे राजनीति के क्षेत्र मे आए हों, किंतु उनका जीवन यदि सादा न रहा और वे आडंबर और ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण में रहे तो निश्चय ही उससे अलिप्त नहीं रह सकते। इस

कारण वे राजनीतिज्ञ तो रहते हैं पर जननेता नहीं बन पाते। जन नेता नहीं रहने पर सामान्य जन के साथ अपना एकत्व नहीं जोड़ पाते और उनका एक प्रथक वर्ग ही बन जाता है। यह स्थिति देश के लिए बहुत घातक सिद्ध होती है।

स्वतंत्रता पाने के पूर्व के अधिकांश राजनेता जननेता पहले थे और राजनेता बाद में। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का उदाहरण दिया जा चुका है। राष्ट्रपति भवन में रहने वाली उनकी आत्मा उससे अलिप्त ही रही। राष्ट्रपति को मिलने वाले वेतन का एक चौथाई ही वे लेते रहे थे अपने राष्ट्रपति काल में।

स्व० लालबहादुर शास्त्री का जीवन तो राजनेताओं के लिए एक प्रशिक्षण-पुस्तिका सा है। उनका जीवन जननेता की खरी कसौटी है। प्रधान मंत्री बनने तक उनके पास अपना मकान नहीं था, न अपनी कार थी। प्रधानमंत्री बन जाने पर भी प्रधानमंत्री निवास में रहने नहीं गए; क्योंकि उन्हें पता था कि हमारे दश का सामान्यजन आधे पेट भोजन करता है, अधनंगा रहता है, उसे सिर छिपाने को छप्पर भी मुश्किल से नसीब होता है। फिर उस देश का प्रधानमंत्री उससे भिन्न ढंग से सुख-सुविधा पूर्ण जीवन को कैसे भोगे?

यह कहीं देखा है कि परिवार का नेता-कर्त्ता स्वयं तो अच्छा भोजन करे, मूल्यवान वस्त्र पहने, मोटरों में घूमे और उसके परिवार के सदस्यों को ढंग का भोजन, वस्त्र, आवास व अन्य जीवनावश्यक सुविधाएँ भी न मिलें। तो उसका कर्त्ता बनना कहाँ सिद्ध हुआ, वह परिवार का नेता कैसे मान लिया जाए? जिस राजनेता ने इस तथ्य को भुलाया नहीं वह सच्चा नेता बना रहा, जन-जन उसके प्रति श्रद्धावान, आस्थावान रहा।

क्या था गाँधी जी के पास जिसने उन्हें राष्ट्रपिता बना दिया। उनके पास इतना बड़ा हृदय था कि वे सारे भारत को अपना परिवार मानते थे, सामान्य भारतीय की तरह रहते थे। इंग्लैंड के सम्राट से मिलने के लिए भी वे अधनंगे फकीरी वेश में ही गए थे और उनके लिए सम्राट को ही अपनी राज मर्यादाएँ शिथिल करनी पड़ी थीं, पर

गांधीजी अपने जननेता के पद से नीचे नहीं उतरे। एम० एल० ए०, एम० पी०, मंत्रीगण आदि भारतीय जनता के प्रति जिम्मेदार व्यक्ति हैं। परिवार के मुखिया का सा आचरण उनसे भी अपेक्षित है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो वे राजनीतिज्ञ तो माने जा सकते हैं लेकिन जन नेता नहीं।

जनतंत्र की सफलता के लिए जनता की श्रद्धा का राजनेताओं से जुड़ना बहुत आवश्यक है। यदि वह नहीं जुड़ती तो जनता और नेता के बीच की कड़ी टूटती है। नेता के प्रति जनता के मन में श्रद्धा तो तभी उपजेगी जब वह उसमें अपने प्रति प्रेम प्रदर्शित होता देखेगी। प्रेम की यह अभिव्यक्ति जनता के दु:ख-सुख को अपना समझ कर उसमें सहभागी होने, उन्हीं का सा जीवनयापन करने से ही होती है। यदि राजनेता ऐसा नहीं करते तो उसकी जनता पर जो प्रतिक्रिया होती है, राष्ट्र की प्रगति में जो गतिरोध उत्पन्न होता है, वह अनिष्टकारी होता है।

हमारे देश के वर्तमान राजनेताओं को जन नेताओं की कसौटी पर कसा जाए तो उनमें से अधिकांश सोना नहीं, पीतल ही सिद्ध होते हैं। हमारे देश में केंद्र और प्रदेश सरकारों में सैंकड़ों की संख्या में मंत्री हैं। उन्हें प्रत्येक्ष रूप से वेतन तो मिलता ही है, साथ ही मुफ्त कार, मुफ्त आवास, मुफ्त के नौकर, मुफ्त की यात्रा और मुफ्त की चिकित्सा सुविधाएँ भी मिलतीं हैं, यह रकम लाखों-करोड़ों रुपयों में होती है। सन् १९७३ में स्वतंत्र पार्टी के एम० पी० श्री दाण्डेकर ने मंत्रियों के खरच के जो आंकड़े प्रस्तुत किए थे यदि उन्हें सत्य मान लिया जाए तो उस समय एक केंद्रीय मंत्री की वार्षिक आय साढ़े चार लाख रुपए होती थी। यानि ३७,००० रुपए प्रति माह जबकि हमारी प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय मात्र ५५२ रुपए ही थी। मंत्रियों की यह आय जनता की आय से आठ सौ अड़तालीस गुना थी। इस अनुपात में ही उनके प्रति जन श्रद्धा का ह्रास भी हुआ है। मंत्रियों के इन शाही खरचों का विवरण देने के पीछे आलोचना, निंदा करने का हमारा कोई अभिप्राय नहीं है। यहाँ तो मात्र स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का प्रयोजन है। काम के अनुपात

में साधन सुविधाएँ पाना तो ठीक है, किंतु यदि वे औचित्य से अधिक हों तो उससे राष्ट्रीय संपदा का अपव्यय ही नहीं होता और भी कई अनिष्ट होते हैं।

राष्ट्र भी एक बड़ा परिवार ही है। गरीब परिवार का मुखिया यदि अकेला जलेबियाँ खाए और दूसरे सदस्यों को नहीं दे तो उनके मन में मुखिया के प्रति असंतोष तो उपजेगा ही, साथ ही वे किसी भी प्रकार जलेबी खाने का प्रयास करेंगे; चाहे इसके लिए उन्हें परिवार का अहित ही करना पड़े, क्योंकि जब परिवार का मुखिया ही घर की कमजोर आर्थिक स्थिति को ध्यान में न रखकर अपना स्वार्थ साधता है तो वह ही क्यों रखे? जिम्मेदार आदमी ही अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाता तो वह क्यों निभाए? यही बात राष्ट्र पर भी लागू होती है। यथा राजा तथा प्रजा की उक्ति में सच्चाई का अंश बहुत है। अत: जनता राजनेताओं का अनुकरण करे यह भी अस्वाभाविक नहीं, ऐसी स्थिति में होता यह है कि व्यक्ति यह भी विचार करना नहीं चाहता कि उन्हें अतिरिक्त सुविधाएँ इसलिए दी जाती हैं कि उन्हें अधिक काम करना पड़ता है। सच पूछा जाए तो बड़ा बनने के लिए सुविधाओं का नहीं, दायित्वों का ही अधिक ध्यान रखना पड़ता है। सारे परिवार की आंतरिक व्यवस्था का भार उठाने वाली माँ से बच्चा यही आशा करता है कि वह स्वंय दूध नहीं पीकर मुझे पिलाएगी। ठीक वैसी ही आशा जनता नेता से जोड़े तो इसमें अस्वाभाविक ही क्या है। राजनीति कोई पेशा तो नहीं, सेवा है। पेशा बनाने पर तो देश की प्रगति–अगति से कोई सरोकार ही नहीं रहता। दुर्भाग्य से हमारे देश में कुछ ऐसा ही हो रहा है और यह चिंता का विषय है।

पैसे के साथ यदि उच्चादर्श, उच्च भावनाएँ नहीं जोड़ी जा सकें तो वह व्यक्तित्व को धूमिल और नैतिकता की सफेद चादर को काली भी कर सकता है। ये शाही खरचे आरंभ में सुविधा समझ कर भी स्वीकारे गए हों, प्राय: आगे चलकर धन में अनावश्यक आसक्ति उपजा देते हैं और सुख–सुविधाओं से मोह भी। फिर व्यक्ति उच्चता

की सीढ़ियों से लुढ़कने लगता है। विश्व के इतिहास में ऐसे राजनेताओं के सैकड़ों उदाहरण मिल जाते हैं जिन्होंने सामान्य सुख-सुविधाएँ भोगते हुए तो देश और देशवासियों के लिए बहुत काम किए, किंतु सत्ता के हाथ में आने पर उन्होंने सचाई को नहीं समझा और वे अपने महान उद्देश्यों और गरिमामय चरित्र से पतित हो गए। हमारे राजनेताओं को भी इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

दुनिया में जहाँ भी लोकतंत्र का पतन हुआ और तानाशाही उत्पन्न हुई या सैनिक शासन स्थापित हुआ, उसके मूल में प्रायः लोक नेताओं की लूट खसोट व भ्रष्ट आचरण भी बहुत बड़ा कारण था। होता यह है कि जन सामान्य के आर्थिक स्तर को ध्यान में रखे बिना राजनेता आवश्यकता से अधिक साधन सुविधाएँ भोगते हैं, अधिक वेतन पाते हैं। उस जीवन से उन्हें मोह हो जाता है। फिर वे पुनः उस पद को पाने के लिए औचित्य अनौचित्य का विवेक छोड़ बैठते हैं। पाँच वर्ष बाद यह पद मिले न मिले तो फिर ये सुख-सुविधाएँ स्वप्न हो जाएँगी। अतः यदि नहीं भी चुने गए तो इन्हें भोगने के लिए धन-संपदा बटोर लें। ऐसी कमजोरी कई लोगों में उत्पन्न होती देखी जाती है। वे आचरणों से भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः इस माया से पहले ही सावधान रहना चाहिए कि वह सिर पर न चढ़ बैठे।

जिस देश के अधिकांश नेताओं को यह बीमारी लग जाती है तो वहाँ सैनिक शासन या एकतंत्र स्थापित हो जाता है। यूनान इसका स्पष्ट उदाहरण है। वहाँ सत्ता के भागीदारों के अतिरिक्त राजा ने भी अपनी रॉयलिस्ट पार्टी अलग बना ली थी। संसद सदस्यों ने अपने परिवार के लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त करा दिया था। जनता के धन को नेताओं ने खूब निर्दयता से अपने लिए खरच किया। परिणाम यह हुआ कि जनता की श्रद्धा समाप्त हो गई। पैंतीस वर्ष में वहां चौंतीस सरकारें बदलीं और अंत में सैनिक शासन स्थापित हो गया।

राजनेताओं के लिए सीधा मार्ग यही है कि वे चुने जाने पर भी अपने को सामान्य नागरिक की हैसियत से ही लें। जो नेता जनता में

पूजे गए हैं और जिन्होंने देश की अविस्मरणीय सेवा की है उन्होंने इसी पथ का अनुसरण किया है। यदि इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा गया तो स्वयं तो पतित होंगे ही, देश का भी अनिष्ट करेंगे। लोकतंत्र की सफलता के लिए जन नेता चाहिए, राजनीति व्यवसायी नहीं। इस बात को जनता भी गाँठ बाँधकर रखे। हमारा दृष्टिकोण जो निरंतर संकुचित होता जा रहा है वह बहुत घातक है। मत देने के साथ यही आग्रह जोड़ा जाए कि देश के साथ हमारी भी प्रगति है। यह दुराग्रह न हो कि अमुक व्यक्ति सत्ता में आ गया तो हमारा लाभ हो जाएगा या अमुक दल का सदस्य जीत गया तो हमारे क्षेत्र का विकास हो जाएगा। इन सब संकीर्णताओं को छोड़े बिना लोकतंत्र के सजग नागरिक की कसोटी पर हम खरे उतर नहीं सकते।

आज की सबसे बड़ी आवश्यकता नैतिक पुनरुत्थान की है। व्यक्ति की कसौटी का मापदंड हमे बदलना ही पड़ेगा। व्यक्ति को उसकी योग्यता, प्रतिभा और संपदा से नहीं उसके उच्च विचारों और सत्कर्मों से मापना होगा। योग्यता, प्रतिभा आदि के साथ ही उनका सदुपयोग कराने के इन आवश्यक गुणों को भी देखना आवश्यक है। राजनेता को इसी कसोटी पर कसने के बाद समझ आने पर ही उसे वोट देना चाहिए। आज राजनीति जो व्यवसाय बनती जा रही है उसे नया मोड़ देना होगा। योग्य, अनुभवी, प्रतिभावान और भावनाशील लोगों की कमी नहीं है। कमी तो निस्पृह नेताओं को ढूँढ़कर उनके हाथों में देश की बागडोर देने की है। राजनेता यदि जन नेता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तो उन्हें गढ़कर जन नेता नहीं बनाया जा सकता। उनके स्थान पर वास्तविक जन नेताओं को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

लोकतंत्र की रक्षा के लिए कुछ सुझाव

प्रजातंत्र की सफलता का आधार मतदाता की देशभक्ति और दूरदर्शिता पर निर्भर रहता है। यह तत्त्व जनमानस में जितने अधिक विकसित होंगे उसी अनुपात में ये शासन तंत्र संभालने के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति चुनने में सफल हो सकेंगे। श्रेष्ठ व्यक्तित्व ही किसी महत्त्वपूर्ण काम को ठीक तरह सँभालने में समर्थ हो

सकते हैं। अधिक सही, अधिक योग्य और अधिक सुयोग्य हाथों में शासन तंत्र रहे तो प्रजा जन उस सरकार के अंतर्गत सुख-शांति और प्रगति का लाभ प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत यदि अवांछनीय तत्त्वों ने शासन पर कब्जा कर लिया तो वे उसका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए, अपने गुट के लिए करेंगे और उस दुरुपयोग के कारण जो अवांछनीय शृंखला बढ़ेगी उसकी चपेट में सरकारी कर्मचारी भी आवेंगे। उनका स्तर भी गिरेगा और इस गिरावट का अंतिम दुष्परिणाम जनता को ही भोगना पड़ेगा। इसलिए जहाँ भी प्रजातंत्री शासन हो वहाँ सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि वहाँ का वोटर इतना सुयोग्य बन जाए कि अपने वोट का राष्ट्र के भविष्य को बनाने-बिगाड़ने की चाबी के रूप में, राष्ट्रीय पवित्र धरोहर के रूप में केवल उचित आधार पर ही उपयोग करे।

दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसा न हो सकेगा। यहाँ निरक्षरता का साम्राज्य है। सन् १९९१ की जनगणना के अनुसार केवल ५२% पढ़े-लिखे लोग हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो अपने जीवन निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है उतना ही लिखना-पढ़ना याद रखते हैं। विचारशीलता बढ़ाने या व्यक्ति-समाज की समस्याएँ सोचने-सुलझाने वाला साहित्य पढ़ने की न उन्हें रुचि होती है न वैसी सामग्री मिलती है। हिसाब-किताब, चिट्ठी, नौकरी, धंधा भर के लिए लोग पढ़ने-लिखने की आवश्यकता समझते हैं। इसके बाद पढ़ना हुआ तो घटिया मनोरंजन करने वाली पुस्तकें या पत्रिकाएँ जो आसानी से मिल जाती हैं, पढ़ लीं। इससे आगे की दिशा निर्धारण करने वाला साहित्य तो इन पढ़े-लिखों में तो तीन चौथाई को नहीं मिलता, फिर अशिक्षितों को उसकी सुविधा कैसे मिले? जनता की विचार शक्ति बढ़ाने के लिए शिक्षा की विशेषतया प्रौढ़ शिक्षा की भारी आवश्यकता थी। सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर यदि इस आवश्यकता को प्राथमिकता दी गई होती तो निस्संदेह अपने देश की शिक्षा की स्थिति बहुत संभल गई होती। हर जगह प्रेरणाप्रद पुस्तकालय रहे होते और उनका संचालन लोकरुचि

जगाने और मोड़ने वाले लोकसेवी कर रहे होते तो विगत वर्षों में अपनी जनता की मनोभूमि बहुत ऊँची उठ गई होती और वोट की महत्ता एवं उसकी उपयोगिता समझ कर उसका प्रयोग करते समय दूरदर्शिता से काम ले सकने की योग्यता उसमें विकसित हो गई होती। ऐसी दशा में हमारे चुने हुए प्रतिनिधि एक से एक ऊँचे स्तर के होते, वे शासन तंत्र को सही ढंग से सँभालते और उनके पुण्य प्रयत्नों द्वारा देश में सुराज्य के मंगलमय दृश्य देखने को मिल रहे होते।

आज चुनाव जीतना एक विशेष कला के अंतर्गत आता है। नासमझ लोगों को बहकाने के लिए जो हथकंडे काम में लाए जा सकते हैं उन्हें ही चुनाव जीतने के लिए आमतौर से प्रयुक्त किया जाता है। जाति-बिरादरी वाली संकीर्णता की बात पिछले आर्यसमाजी और कांग्रेसी आंदोलनों ने काफी हलकी कर दी थी, पर जब से चुनावी हथकंडे सामने हुए हैं इस विष को फैलाकर आसमान पर चढ़ा दिया गया है। सचाई यह है कि अब चुनाव बिरादरीवाद और जातिवाद के विद्वेष को भड़काकर लड़े और जीते जाते हैं। बाहर से कोई सिद्धांतवाद की लंबी चौड़ी बातें भले ही करता फिरे, चुनाव जीतने के वक्त जातिवाद को भीतर ही भीतर खूब भड़काया जाता है। बहुमत वाली जाति से उसका उम्मीदवार अपने वोट देने की बात कहता है और दूसरी बिरादरी को वोट न जाए इसलिए उसकी ओर से अपने लोगों के लिए कटु वचन कहने या चुनौती देने की मनगढ़ंत अफवाएँ फैलाता है। इसी विषाक्त वातावरण में चुनाव लड़े जाते हैं और बिरादरीवाद को उत्तेजित और संगठित कर लेने वाले बाजी मार ले जाते हैं। राजनैतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते समय इस बिरादरी स्थिति को ही ध्यान में रखकर आमतौर से उम्मीदवार खड़े करते हैं। इस प्रवृति को भड़का कर योग्यता और उत्तमता की दृष्टि ही नष्ट कर दी गई। अपनी बिरादरी वाले को जिताने के उन्माद का लाभ केवल हथकंडे बाज और तिकड़मी लोग ही उठा पाते हैं और जीत जाने पर अपना उल्लू सीधा करने की तरकीबें भिड़ाने लग जाते हैं।

चुनाव के दिनों सिद्धांतों की बात तो ऊपर-ऊपर से कही-सुनी जाती है। वस्तुतः वोटरों को अपने पक्ष में करने के लिए उस क्षेत्र के प्रभावशाली लोगों पर डोरे डाले जाते हैं और उन्हें तरह-तरह के हाथों-हाथ या आश्वासनों के प्रलोभन देकर अपनी गिरोहबंदी में शामिल किया जाता है। वे अपने प्रभाव परिचय का उपयोग भोले लोगों से वोट प्राप्त करने में करते हैं और सहज ही वे बहकाए हुए किसी के पीछे-पीछे चलकर किसी को भी वोट दे आते हैं और कोई भी जीत जाता है। वोट के दिनों वोटरों को सवारी, भोजन, चाय-पानी, नकदी, खुशामद आदि के रूप में कई तरह के मीठे बड़े प्रलोभन दिए जाते हैं, सब नहीं तो उनके अगुआ इन सुविधाओं को थोड़े समय के लिए ही सही, प्राप्त करके अपना मान बढ़ा समझ लेते हैं।

वोटर में न तो स्वयं की इतनी चेतना विकसित हुई होती है कि राष्ट्र के भाग्य-भविष्य का निर्माण कर सकने वाले सुयोग्य व्यक्ति को ही वोट देकर अपना कर्त्तव्य पालन करें ओर न उनकी इस प्रकार की योग्यता विकसित करने के लिए कोई संगठित प्रयत्न किए जाते हैं। तत्काल भड़काने वाली कुछ स्थानीय या सामाजिक चरचाएँ ही वोटरों का विचार बनाती-मोड़ती हैं। इन हथकंडों के साथ गिरोहबंदी, जोड़-तोड़ और दौड़धूप करना हर किसी के बस का नहीं है। उसमें खरच भी बहुत पड़ता है, उसे कोई लोकसेवक निस्पृह व्यक्ति कैसे जुटा पाए। जीतते वे लोग हैं जो चुनाव में अंधाधुंध पैसा इस ख्याल से खरच करते हैं कि जीतने पर ब्याज सहित वसूल कर लेंगे। जिनने यह सोचकर पैसा और समय खरच किया है वे जीतने पर यदि कुछ लाभ कमाना चाहें तो इसमें हरजा ही क्या है। यह निश्चित है कि जिनके सहयोग से अनुचित स्वार्थ सिद्ध किया गया है उनको भी वैसा ही लाभ उठाने की छूट मिलेगी। इस प्रकार ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार की शृंखला का सिलसिला बंध जाएगा। जनता चक्की के उन पाटों के बीच पिसती-कराहती रहेगी।

सभी वोटर ऐसे होते हैं या सभी चुनाव जीतने वाले ओछे तरीके अपनाते हैं यह नहीं कहा जा रहा, सज्जनता का बीज नाश

कभी नहीं होता, इसलिए अपने चुनावों में भी बहुत जगह बहुत लोग सही तरीके अपनाते और जीतते देखे जाते हैं। पर वे अपवाद ही हैं। अधिकतर ऐसी ही भेड़िया धसान चल रही है जैसी कि ऊपर चरचा की गई है। उसका प्रधान कारण भारतीय जनता को प्रबुद्ध और प्रगल्भ बनाने की दिशा में बरती गई उपेक्षा ही है। जब तक इस आवश्यकता को पूरा न किया जाएगा-जनमानस को राजनीतिक उत्तरदायित्व संभालने के प्रथम प्रजातंत्री कर्त्तव्य मतदान का महत्त्व और दूरगामी परिणाम विदित न होंगे तब तक स्थिति के सुधरने की आशा नहीं की जा सकती। प्रजातंत्र स्विटजरलेंड जैसे प्रबुद्ध नागरिकों के देश में सही तरह सफल हो सकता है। जनता का स्तर यदि घटिया है तो घटिया ही लोग चुने जाएँगे और इसके द्वारा चलाया हुआ शासन स्वराज्य कहला सकता है पर उसके द्वारा सुराज्य की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती।

इस कठिनाई को हल करने का स्थिर उपाय तो यही है कि जनता को साक्षर, शिक्षित, प्रबुद्ध एवं दूरदर्शी बनाने के लिए युग-निर्माण योजना द्वारा संचालित जन-मानस परिष्कार अभियान को अधिकाधिक समर्थ और सफल बनाने में पूरा जोर लगाया जाए। जनता जितनी दूरदर्शी, देशभक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ और नागरिक कर्त्तव्यों का ठीक तरह पालन कर सकने में समर्थ बनती जाएगी उतना ही वोट का सदुपयोग होगा और सही व्यक्ति सही ढंग से शासन तंत्र चलाने के लिए नियुक्त किए जा सकेंगे। जब तक जन-मानस का स्तर गिरा हुआ रहेगा तब तक उसके द्वारा चुने हए प्रतिनिधि भी उसी स्तर के रहेंगे। दल-बदल, पदलोलुपता, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, स्वार्थ साधन, भ्रष्टाचार की अनेक शिकायतें हमें अपने शासन संचालकों से रहती हैं। इसका मूल दोष जनता की अपरिपक्व मन:स्थिति को ही दिया जा सकता है। जब तक उसमें सुधार परिष्कार न होगा, शासन तंत्र अनुपयुक्त व्यक्तियों के हाथों में ही बना रहेगा। जैसा दूध होगा, मलाई भी उसी स्वाद की बनेगी। जनता का स्तर ही चुनाव में विजयी होकर आता है। यह सिद्धांत विश्वव्यापी है। भारतवर्ष का ही नहीं जहाँ भी प्रजातंत्र है वहाँ यही सिद्धांत लागू

होंगे। अस्तु दोष न वोटर का है न चुनाव जीतने वालों का। पिछड़ेपन की परिस्थिति ही ऐसी है जिसमें जनता से अधिक ऊँचे स्तर का शासन मिल सकना संभव ही नहीं हो सकता।

इस स्थिति में आपत्तिकालीन स्थिति की तरह एक सामयिक उपाय दूसरा भी है कि वोट देने का तरीका प्रत्यक्ष न रखकर अप्रत्यक्ष कर दिया जाए। इसमें वोटरों को बरगलाने का खतरा कम और विवेक से काम लेने का अवसर अधिक है। आरंभ ग्राम पंचायतों से किया जाए। वहाँ भी वोट डालने का तरीका ऐसा हो जिसमें दूसरे किसी को पता न चल पाए कि किसे वोट दिया गया। चुनाव दो तिहाई पर सफल माना जाए। आजकल दूसरे सभी प्रत्याशियों की अपेक्षा अधिक वोट मिलने पर चुनाव जीतने का कायदा है, उसे बढ़ाकर दो तिहाई कर दिया जाए इससे लोकप्रिय व्यक्ति ही चुने जा सकेंगे। प्रयत्न सर्वसम्मत चुनाव का किया जाए। यह भी हो सकता है कि एक बार प्राथमिक परीक्षण में कितने ही लोग खड़े हो सकते हैं। उस चुनाव में लोकप्रियता का पता चल जाएगा। इनमें जिनके सबसे अधिक वोट हों ऐसे दो प्रतिद्वंदी ही अंतिम चुनाव में खड़े रहें और उनमें से जिसे दो तिहाई वोट मिलें, उसी को सफल घोषित किया जाए। अच्छा तरीका यह है कि दोनों में से विवेकशीलता, चरित्र और सेवा की दृष्टि से जिसका पिछला स्तर ऊँचा रहा हो उस एक को ही सर्व सम्मति से चुना जाए। इससे चुनाव के कारण जो कटुता उत्पन्न होती है उससे बचा जा सकेगा।

इस ग्राम पंचायत चुनाव में चुने हुए लोग क्षेत्र पंचायत का, क्षेत्र पंचायत वाले जिला पंचायत का, जिला पंचायत वाले प्रांत पंचायत का और प्रांत पंचायत वाले देश की पंचायत का चुनाव कर लिया करें। इससे यह लाभ होगा कि अधिक ऊँची पंचायत के लिए अधिक उत्तरदायी और अधिक योग्य वोटर रहेंगे और उनसे अधिक विवेकशीलता और जिम्मेदारी की आशा की जा सकती है। यह तरीका आज के सीधे चुनाव के तरीके की अपेक्षा भारत जैसे पिछड़े देश के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा।

राष्ट्रपति का चुनाव ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि करें ताकि किसी एक पार्टी के वोटों पर निर्भर वह न रहे। बहुमत पार्टी का चुना राष्ट्रपति उसी का पक्षपात न करे यह आशंका बनी रहेगी, जबकि संविधान की रक्षा के लिए पूर्ण निष्पक्ष राष्ट्रपति की आवश्यकता है। अत: बेहतर यह होगा कि अपने यहाँ अमेरिका के ढंग से राष्ट्रपति का चुनाव हो और उसके अधिकार भी बढ़ा दिए जाएँ। मात्र बहुत पार्टी का समर्थक या प्रवक्ता राष्ट्रपति रहे तो शासन में निरंकुशता बढ़ेगी।

चुनाव में खड़े होने के लिए वोटर की कुछ योग्यता निर्धारित होनी चाहिए जिसमें शिक्षा, चरित्र और सेवा इन तीन को आधार बनाया जाए। जैसे-जैसे चुनाव का स्तर ऊँचा होता जाए वह प्रतिबंध भी अधिक कड़े होते जाएँ। धनिक एवं व्यवसायी वर्ग को क्रमश: चुने जाने में प्रतिबंधित किया जाता रहे, क्योंकि वे अपने निहित स्वार्थों के लिए सत्ता का दुरुपयोग कर सकने में अधिक आगे बढ़ सकते हैं। सत्ता में जाने के बाद किसने अपने परिवार के लिए कितना धन कमाया और उसमें कुछ अनुचित तो नहीं था, इस बात की अधिक कड़ी निगरानी रखे जाने की व्यवस्था हो। इस प्रकार के प्रतिबंधों से चुने प्रतिनिधियों का स्तर अधिक ऊँचा रखा जा सकेगा। दलबदल करना हो तो स्तीफा देकर नया चुनाव ही लड़ा जाना चाहिए।

मंत्रियों की संख्या बहुत सीमित रखी जाए। विभाग बहुत न बढ़ाए जाएँ। दफ्तरों पर दफ्तर, कागजों पर कागज की लाल फीताशाही समाप्त की जाए और कार्यों के तुरंत फैसला होने की पद्धति विकसित की जाए। आज की बहुत देर लगने वाली और रिश्वतखोरी के लिए पूरी-पूरी गुंजायश छोड़ने वाली सरकारी कार्यपद्धति को अमूलचूल बदल दिया जाए। असेम्बलियों के अधिवेशन वर्ष में एक महीने से अधिक न हो। उन्हें वक्ताओं का सभा मंच न बनाया जाए। दल अपने प्रतिनिधि अनुपात के हिसाब से नियुक्त कर दें और वह छोटी समिति ही सामान्य निर्णयों को निपटाती रहे। इस तरह प्रतिनिधियों पर अधिवेशन के दिनों खरच होने वाला पैसा बच

जाएगा और वे लोग अपना समय जन संपर्क में, लोगों की कठिनाइयाँ दूर करने में, सहयोग करने में लगा सकते हैं। इस प्रकार शासन को कम खरचीला, अधिक स्वच्छ एवं अधिक सुघर बनाया जा सकेगा।

कानूनों को नए सिरे से बनाया जाए, जिसमें गवाहों के आधार पर नहीं पंच प्रतिनिधियों की रिपोर्ट पर फैसले किए जाएँ। आततायियों के आतंक से आमतौर से सही बात कहने वाले गवाह नहीं मिलते और खरीदे हुए गवाह झूठी बात कहने अदालतों में पहुँच जाते हैं। इससे कमजोर लोगों को न्याय नहीं मिलता। फिर वह खरचीला भी बहुत है। रिश्वत की उसमें इतनी गुंजायश है कि कचहरी में अब उसे 'हक' मान लिया गया है। यह प्रणाली न बदली गई तो लोग न्याय मिलने से निराश होने लगेंगे और बदला चुकाने के लिए कानून हाथ में लेने की प्रवृत्ति पनपेगी। इसलिए न्याय सुलभ हो जाए और अपराधियों को अधिक कड़ी और कष्टकारक सजा मिलने की व्यवस्था हो जिससे लोगों में अपराध न करने के लिए भय उत्पन्न हो। जेलों को सुधार गृह बनाने का आज जो प्रयोग चल रहा है उसमें अपराधी घर से भी अधिक सुविधा वहाँ जाकर पाते हैं और सुख के थोड़े से दिन काटकर आगे फिर वैसा ही करने को निर्भय हो जाते हैं। जेल से छूटने के बाद या पहले सुधार गृह में उन्हें अलग से एक स्कूली शिक्षण प्राप्त करने की तरह रखा जाए यह तो बात समझ में आती है पर पेचीदा कानूनों के कारण अपराधियों के छूटने का अधिक अवसर रहने के बाबजूद यदि उन्हें हलकी और सुखदायक सजा मिलेगी तो यह सजा ढकोसला मात्र रह जाएगी।

ऐसी बीसियों बातें है जिनमें सुधार की काफी गुंजायश है। एक प्रांत से दूसरे प्रांत के लिए खाद्य पदार्थ जाने में प्रतिबंध लगाना एक प्रकार से देश में ही विदेशों जैसी स्थिति पैदा करना है। अभाव या सुविधा का परिणाम पूरे देश के नागरिकों को समान रूप से भोगना पड़े तभी वे एक देश के नागरिक समझे जाएँगे। यदि एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र पर प्रतिबंध लगावे तो उससे राष्ट्रीयता विभक्त होने जैसी मनोभूमि बनती है। व्यर्थ के कानूनी झंझट खड़े होते हैं और तस्कर व्यापार आदि की गुंजायश बढ़ती है। इसी प्रकार टैक्स

वसूल करने की प्रणाली प्रत्यक्ष न रहकर अप्रत्यक्ष रहे। उत्पादन पर शुल्क लगा दिया जाए। बिक्री पर बार-बार टैक्स लगाने से अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता है और उस नियंत्रण मशीन को चलाने में ही बिक्रीकर का बहुत सा अंश चला जाता है। पोलपट्टी बढ़ती है सो अलग। टैक्सों के तरीके परोक्ष बनाए जा सकते हैं और कम खरच से आसानी से वसूल किए जा सकते हैं।

अच्छी सरकार देश के चरित्र स्तर और मनोबल को यदि चाहे तो आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ा सकती है। शिक्षा में जीवन विद्या तथा समाज निर्माण को प्रभावी ढंग से पढ़ाया जा सकता है और निरर्थक का कूड़ा जो बच्चों के दिमाग में अकारण ठूँसा जाता है उसका बोझ हटाया जा सकता है। छात्रावासों में रखकर शिक्षण देने की, छात्रों को कुछ उपार्जन सिखाने की व्यवस्था के साथ शिक्षा पद्धति ऐसी परिष्कृत बनाई जा सकती है जिससे बालक घरेलू कुसंस्कारों से बचे रहें और सुसंस्कृत वातावरण में सुविकसित होने का लाभ उठा सकें। विशेषज्ञ बनने वालों को विशेष पढ़ाई की सुविधा हो, पर सामान्य नागरिकों के लिए मध्यवर्ती एक ऐसा पाठ्यक्रम पर्याप्त माना जाए जिसमें जीवन में आने वाले सभी विषयों का सामान्य समावेश बना रहे।

साहित्य का स्तर निम्न न बनने पाए। उसमें भ्रष्ट प्रशिक्षण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़ने तो नहीं लगा है यह देखना और रोकना शासन का पवित्र कर्त्तव्य है। नागरिक स्वाधीनता के नाम पर भ्रष्ट तस्वीरें छापने की, भ्रष्ट फिल्में बनाने की सुविधा किसी को भी नहीं मिलनी चाहिए। वस्तुतः जनमानस को प्रभावित करने वाले साहित्य संगीत और कला को भ्रष्टता से बचाने के लिए इसका आंशिक राष्ट्रीयकरण किया जाए। इन तंत्रों को उन्हीं के हाथों में रहने दिया जाए जो लोकमानस को विकृत न होने देने की और उत्कृष्ट सृजन करने की शर्त से राष्ट्र के साथ कड़ाई के साथ बांधे गए हों। बारूद का लायसेंस हर किसी को नहीं मिलता। हथियार रखने की छूट भी हर किसी को नहीं होती। इसी प्रकार साहित्य, चित्र, सिनेमा जैसे जनमानस को प्रभावित करने वाले अति

संवेदनशील माध्यमों को हर किसी के हाथ चाहे जैसे दुरुपयोग करने के लिए अनियंत्रित नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए। जब तक जनता भले बुरे की परख कर सकने की स्थिति में स्वयं नहीं पहुँच जाती तब तक शासन द्वारा इन क्षेत्रों में बढ़ने वाली भ्रष्टता पर नियंत्रण लगाकर रखा जाए तो यह सर्वथा उचित ही होगा। इस नियंत्रण के साथ लोक-मानस को प्रभावित करने वाले सत्सृजन को हर प्रकार की सुविधा और सहायता भी दी जानी चाहिए जिससे वह अधिक समर्थ और अधिक सफल हो सके।

आज की शासन व्यवस्था में अनेक दोष आ गए हैं। उन्हें सुधारने के लिए हमें सारी पद्धति को नए सिरे से विनिर्मित करना पड़ेगा ताकि वर्तमान ढाँचे से अभ्यस्त और संतुष्ट लोगों को नए सिरे से सोचने और करने का अवसर मिले। इसके लिए निस्संदेह शासन व्यवस्था और सरकारी क्रिया कलाप में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इस तथ्य को समझ लेने के बाद उपरोक्त मोटे सुझावों के अतिरिक्त अन्य बीमारियों पर विचार किया जा सकता है। हमें नवनिर्माण के लिए स्वच्छ और स्वस्थ शासन का सहयोग चाहिए। उसका निर्माण भी एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है जिसकी पूर्ति की ही जानी चाहिए।

शासनतंत्र के लिए कुछ व्यवहारिक सुझाव

समाज संगठन का सशक्त स्वरूप अब सरकार को ही माना जाना चाहिए। कोई समय था जब अनुभवी, ईमानदार और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को पंच बना दिया जाता था और वे सद्व्यवहार की सत्परंपराएँ चलाते रहने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहते थे। ऐसे अवसर कम ही आते थे, जिनमें सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया गया हो और अपराधियों को प्रताड़ना, भर्त्सना एवं क्षतिपूर्ति के लिए बाध्य न होना पड़ा हो। इस प्रक्रिया में निश्चयों को कार्यान्वित करने में विलम्ब भी नहीं लगता था। वादी-प्रतिवादियों के सिर पर न्याय व्यवस्था का कोई खरच भी नहीं पड़ता था। गवाहों की खानापूरी करने की अपेक्षा पंच लोग ही झंझटों की तह

तक पहुँचकर वस्तुस्थिति का पता लगा लेते थे। साक्षी मात्र प्रतिष्ठितों की, न्यायप्रिय लोगों की ही उपयुक्त मानी जाती थी। भाड़े के अप्रमाणिक व्यक्तियों की भीड़ लगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। दूर न्यायालयों में जाने का खरच भी नहीं पड़ता था और समय भी व्यर्थ नहीं जाता था। पंचायतें सत्प्रवृत्तियों के संचालन और दुष्प्रवृत्तियों के दमन का कार्य स्वयं ही कर लेती थीं। उनके पीछे लोकमत होता था। इसलिए निर्देशनों के उल्लंघन की हिम्मत भी किसी की नहीं पड़ती थी। केंद्रीय सरकार को हस्तक्षेप तब करना पड़ता था, जब पंचायतों के निर्णय से अधिक का कोई झंझट सामने आता था। राज्यों की सीमा-सुरक्षा की जिम्मेदारी भी वे सरकारें ही उठाती थीं। उनके खरच के लिए लोग अपने उपार्जन का छठा अंश राज्यकोष में पहुँचा देते थे।

अब वह समय नहीं रहा। पंचायतें दुर्बल हो गईं। उनका कार्य सरकार को करना पड़ रहा है। शिक्षा, चिकित्सा, संचार, परिवहन आदि के लोकोपकारी कार्य भी उसी के जिम्मे हैं और अपराधियों से भी वही निपटती है। बाह्य आक्रमणों एवं आंतरिक विग्रहों को दबाना भी उसी का काम है। अपने देश में प्रजातंत्र है। प्रजा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि ही सरकार के छोटे-बड़े संस्थानों को चलाते हैं। अफसर और कर्मचारी निर्धारित कार्यों की पूर्ति के लिए अपना पूरा समय लगाते हैं।

शासन का स्वरूप जनता द्वारा, जनता के लिए राज्य करना है। जन प्रतिनिधि कानून एवं संविधान बनाते या नीति निर्धारित करते हैं। निर्णयों को कार्यान्वित करने का दायित्व अफसरों या कर्मचारियों का होता है इसलिए उन्हें नियुक्त करते समय मात्र उनकी शिक्षा ही नहीं, पिछले जीवन की नीतिमत्ता एवं सेवा भावना भी परखी जानी चाहिए। इन दिनों यह नियुक्तियाँ २१ से २५ वर्ष तक की आयु वालों की होती हैं। इसमें परिवर्तन होना चाहिए। अनुभव ३० वर्ष से कम आयु में किन्हीं विरलों में देखा गया है। अनुभवहीनों को मात्र शिक्षा के आधार पर महत्त्वपूर्ण पद देना गलत है। जिनका सरकार पर प्रभाव है, राजनीति में

दबाव है, वे बड़ी आयु के अफसरों की नियुक्ति पर जोर दें। वे आलसी प्रमादी नहीं हों, रिश्वतखोरी न करें। इनकी जाँच पड़ताल करते रहना सरकार का अपना काम है। इन दिनों जनता में रिश्वत देने वाले और अफसरों में लेने वालों की संख्या बढ़ गई है। फलतः अनुचित कार्य होते रहते हैं और उचित मार्ग अपनाने वालों को हैरानी का सामना करना पड़ता है। यह प्रक्रिया रोकी न जा सकी, तो न्याय और नीति के पैर उखड़ जाएँगे और अनौचित्य की तूती बोलेगी।

न्यायपालिका एवं कार्यपालिका की विधि ऐसी हो कि कम समय में प्रतिवेदनों का निपटारा हो जाया करे। इन दिनों निर्णयों में बहुत समय लगता है और तारीखें बार-बार आगे बढ़ाई जाती रहती हैं। इसे 'लाल फीता शाही' कहते हैं। इस कारण सरकार से जो आशा की जाती है वह बहुत मंहगी पड़ती है, फलतः संबद्ध व्यक्ति बुरी तरह खीजते हैं और विश्वास उठ जाने से कानून अपने हाथ में लेने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रक्रिया के कारण नए किस्म के उपद्रव उठ खड़े होते हैं, मूल बात पीछे रह जाती है। शासन तंत्र बहुत मंहगा हो गया है इसलिए हर क्षेत्र में टैक्सों की बढ़ोत्तरी निरंतर होती जाती है। शासन इतना खरचीला न हो। आवश्यकता से अधिक लोग न रखे जाएँ। वेतन इतना हो जितने में देश का मध्यवर्ती समाज गुजारा करता है। इन दो बातों पर ध्यान दिया जाए और कर्मचारियों की चुस्ती-फुर्ती एवं ईमान की विश्वस्त जाँच-पड़ताल होती रहे, तो जनता और अफसरों के बीच जो खाई चौड़ी होती जाती है, वह न हो। इन दोनों के कारण सरकार की लोकप्रियता घटती है और जनसाधारण की देशभक्ति-भावना में कमी आती है। लोग सरकारी निर्देशनों, सुझावों, योजनाओं पर ध्यान भी नहीं देते हैं। यह स्थिति सरकार और जनता दोनों के लिए ही अशोभनीय है।

अपराधियों को दंड मिलने की प्रक्रिया इतनी झंझट भरी तथा हल्की है कि उसका प्रभाव-दबाब अपराधियों पर नगण्य जितना पड़ता है। उनमें से अधिकांश कानूनी पेचीदगियों के कारण तथा गवाह न मिलने के कारण छूट जाते हैं, जमानत पर छूट जाने से वे

फिर आतंक पैदा करते हैं और गवाहों को धमकाते हैं। यदि सचमुच ही अपराधों में–अपराधियों में कमी करनी है तो दंड व्यवस्था कड़ी होनी चाहिए। और पीड़ित पक्ष को गवाहियाँ जुटाने के दायित्व से मुक्त करना चाहिए। वस्तुस्थिति का पता सरकार और पंचायत तंत्र की किसी समन्वित समिति के हाथ सौंपा जाए, अन्यथा अपराधियों को दंड मिलना संभव न रहेगा।

कर चोरी और काले धन की वृद्धि में जहाँ व्यापारी दोषी हैं वहाँ कर लगाने व वसूल करने की वर्तमान पद्धति भी कम दोषी नहीं है। उत्पादन कर एक जगह लगा दिया जाए और हर साल का लेखा–जोखा लेने में यदि आमदनी बढ़े तो उस पर टैक्स ले लिया जाए। अनेक ऐसे तरीके हैं जिनके कारण कर चोरी और काले धन की निरंतर अभिवृद्धि होती जाती है। यदि यह दबाया हुआ पैसा खोजा जा सके, तो उससे उद्योगों की वृद्धि हो सकती है और बेरोजगारी घट सकती है।

देहाती उपयोग की वस्तुएँ कुटीर उद्योग के अंतर्गत गाँवों में ही बनें। बड़े मिलों को उनकी प्रतिद्वंद्वता न करने दी जाए। सरकारी तंत्र के अंतर्गत कच्चा माल देने, बना माल खरीदने की व्यवस्था रहे, तो लाखों बेरोजगारों को काम मिल सकता है। बेरोजगारी के कारण जो अनेकों प्रकार के विग्रह पनप रहे हैं, उनमें रोकथाम हो सकती है।

शिक्षा का ऐसा क्रम बने कि जूनियर हाईस्कूल स्तर की शिक्षा को व्यापक बनाया जाए। उसको व्यक्तिगत आधार पर भी पनपने दिया जाए। जीवन में निरंतर काम आने वाले शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक विषयों का इस अनिवार्य शिक्षा में समावेश हो। इतिहास, भूगोल, रेखागणित जैसे हर एक के काम न आने वाले विषयों का परिचय मात्र एक पुस्तक में करा दिया जाए। इसी बीच गृह उद्योगों का व्यावहारिक शिक्षण भी चलता रहे। कॉलेज स्तर की शिक्षा को प्रोत्साहन न दिया जाए, जो विशेषज्ञ बनना चाहें, उन्हीं के लिए कॉलेजों के द्वार खुले रहें। नौकरी के लिए पढ़ाई का भ्रम विद्यार्थियों और अभिभावकों के मन में से निकाल दिया जाना चाहिए।

विविध विषयों की रात्रि पाठशालाओं की नई व्यवस्था चले, महिलाओं के लिए मध्याह्न पाठशालाओं की। इनमें साहित्य विषय कम और व्यावहारिक विषयों की बहुलता रहे।

वार्षिक परीक्षाओं की पद्धति दोषपूर्ण है, उसमें अयोग्य लड़कों के हथकंडों के आधार पर उत्तीर्ण होने की बहुत अधिक गुंजायश है। मासिक परीक्षाएँ होने लगें। मात्र पुस्तकीय ज्ञान न आँका जाए, वरन प्रतिभा, चरित्र एवं लोकसेवा जैसे विषयों में भाग लेने की जाँच पड़ताल होती रहे। इन, मासिक परीक्षाओं के अंक जोड़कर ही वार्षिक परीक्षा मान ली जाए।

भारत में सामाजिक कुरीतियों की भरमार है। धर्म निरपेक्षता के नाम पर इच्छावर्ती चलते रहने की छूट न मिलनी चाहिए। समाज सुधार के कुछ कानून हिंदू संप्रदाय के लिए ही बने हैं, जबकि दूसरे संप्रदाय उनसे मुक्त रखे गए हैं, यह उचित नहीं। बहुविवाह, परदा प्रथा जैसी अनेक बुराइयाँ सभी वर्गों संप्रदायों से हटाई जानी चाहिए।

आरक्षण जाति विशेष को न दिया जाए। जिनकी सामाजिक या आर्थिक स्थिति सचमुच गिरी हुई है, उन सभी को आरक्षण का लाभ मिले, जबकि आजकल अनुसूचित जाति के नाम पर सुसंपन्नों को भी वह लाभ मिलता है, जो वस्तुतः पिछड़ों को मिलना चाहिए। इन दिनों वनवासी वर्ग सचमुच ही ऐसा है, जिनको जन-सामान्य के स्तर तक लाने की विशेष चेष्टा की जानी चाहिए

प्रौढ़ शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ७० प्रतिशत प्रौढ़ों की शिक्षा उपेक्षणीय नहीं है। पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएँ और महिलाओं के लिए अपराह्न शालाएँ स्वयं सेवी संस्थाओं के माध्यम से चलाई जाएँ। इसके लिए ऐसी संस्थाओं के संगठन और संचालन के लिए शासक समुदाय अपने प्रभाव का उपयोग करके लोकसेवी संस्थाओं के निमित्त आवश्यक उत्साह पैदा करें।

बाल विवाह, बहु विवाह और बहु प्रजनन, बड़े प्रीतिभोज, भिक्षा व्यवसाय आदि के विरुद्ध कड़े कानून लागू किए जाएँ। ढीले-

पोले कानूनों का रहना न रहना समान है। यदि इन सामाजिक बुराइयों को सचमुच ही रोकना है, तो लोगों की नाराजगी का, वोट कटने का ध्यान रखे बिना, इन्हें कड़ाई से लागू करना चाहिए और अपराधियों को ऐसे दंड देने चाहिए जिससे दूसरों के कान खुलें।

कन्या शिक्षा के पाठ्यक्रमों में उन विषयों को जोड़ा जाए, जो उनके पारिवारिक जीवन के हर पक्ष पर प्रकाश डालते हों, साथ ही आपत्ति के समय कुछ कमा सकने जैसे गृह उद्योग भी आवश्यक रूप से पढ़ाए जाएँ। इन विषयों को पढ़ाने के लिए उन विषयों को कम किया जा सकता है, जो स्कूल छोड़ते ही विस्मृत हो जाते हैं और कभी किसी काम नहीं आते।

छात्र संस्थाओं की मारफत विद्यालयों में सादा जीवन-उच्च विचार की विद्या कार्यान्वित की जाए। इन दिनों वहाँ के वातावरण में उच्छृंखलता के तत्त्व प्रवेश करते जा रहे हैं, इसे निरस्त करने के लिए अध्यापक और विद्यार्थी मिल-जुलकर काम करें।

स्वयं सेवी संगठनों की मारफत प्रौढ़ शिक्षा की ही तरह हर गाँव में व्यायामशाला की स्थापना कराई जाए, जिसमें हर स्तर के बाल-वृद्धों को उनकी स्थिति के अनुरूप व्यायाम कराए जाएँ। इसके साथ ही स्वस्थ रहने से संबंधित सभी विषयों का संक्षिप्त समावेश हो। फर्स्टएड, रोगी परिचर्या, धात्री कला, शिशु-पोषण जैसे विषय इन व्यायामशालाओं के साथ ही बौद्धिक शिक्षा के रूप में पढ़ाए जाएँ।

प्रौढ़ शिक्षा और व्यायाम आंदोलन के लिए ऐसी पाठ्य पुस्तकें रहें, जिनमें आज के व्यक्ति, परिवार और समाज की सभी समस्याओं का स्वरूप और समाधान संक्षेप में, किंतु सारगर्भित रूप से मौजूद हो।

देहातों में ग्रामीणों के सामने उपस्थित सभी समस्याओं के कारण और विवरण बताने वाले छोटे सिनेमाघर बनाए जाएँ, जिनके टिकट स्वल्प दामों के हों। उनके लिए सस्ते दामों पर दिखाने के लिए रचनात्मक एवं सुधारात्मक फिल्में शांतिकुंज जैसी संस्थाएँ बनाती रहें और उसे व्यापक रूप से छोटे-छोटे गाँवों तक पहुँचाने

का प्रबंध किया जाए। यह योजना सरकार हाथ में लेने के झंझट में न पड़ना चाहे, तो स्वयं सेवी संस्थाओं को यह काम सौंपा जा सकता है। देश में डॉक्टरों, प्रशिक्षित नर्सों एवं इंजीनियरों की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके लिए पाँच वर्ष वाला कोर्स थोड़े से प्रतिभावान एवं संपन्न लोग ही पूरा कर सकते हैं। सरकार इनके डिप्लोमा कोर्स दो-दो वर्ष के बनाए और उन्हें देहाती क्षेत्रों में काम करने के लिए भेज दे। ग्राम प्रधान देशों में से कइयों ने ऐसे डिप्लोमा कोर्स जारी किए हैं।

शहरों की बढ़ती आवादी और देहातों से भगदड़-यह दोनों ही हानिकारक हैं। इसका विकल्प कस्बों को विकसित किया जाना है। कस्बों में उद्योग लगाए जाएँ और आस-पास के गाँवों के लिए सड़कें हों, माल ले जाने के लिए हल्के पहियों वाली बैलगाड़ियाँ बनें, तो शहरों के विक्रेद्रीकरण का काम सरलतापूर्वक चल सकता है, आज की देहाती तथा शहरी कितनी ही समस्याओं का समाधान हो सकता है।

गाँवों का मल-मूत्र इर्द-गिर्द ही सड़ता रहता है, जिससे दुर्गंध तथा बीमारी तो फैलती ही है, साथ ही कीमती खाद का भी भारी नुकसान होता है। इसके लिए सस्ते, बिना सॉकपिट वाले पाखाने, सामूहिक पाखाने, रोड़ी-कंकड़ वाले पेशाब घर जगह-जगह बनाए जाने चाहिए। कम लकड़ी से जलने वाला चूल्हा भी हर किसी को उपलब्ध हो सके-ऐसा प्रबंध किया जाना चाहिए। संभव हो तो हैंडपंप लगाने की योजना को भी सस्ता और सरकारी तंत्र के साथ जुड़ा बनाया जाए। देहाती सस्ते मकानों के लिए खपरैल बनाने की व्यवस्था भी बड़े पैमाने पर जगह-जगह की जाए। सीमेंट के ढले हुए पाए भी बन सकें तो बढ़ती आबादी के लिए घिच-पिच में सड़ने की अपेक्षा सस्ते मकानों की देश व्यापी योजना बन सकती है। इसमें लोहे के स्थान पर बांस का उपयोग हो सकता है।

राष्ट्रीय एवं स्थानीय सरकारी तंत्र के स्तर पर यह सभी सुझाव दिए जाएँ और जहाँ जो प्रबंध बन पड़ रहा हो, उसमें पूरा-पूरा सहयोग स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा सरकार को दिया जाए। शासन

तंत्र के पास साधन हैं, व्यक्ति हैं, मात्र सुनियोजन का अभाव है। प्रजातंत्र में यह प्रयोग सफल न हो सका तो अन्य क्षेत्रों में क्रांति लाने की बात फिजूल है। हम अपने संगठन से ही इस प्रयोग का शुभारंभ करें। परिणति सुखद ही होगी।

लोकमानस परिष्कार के प्रति प्रबुद्धों एवं शासन तंत्र का उत्तरदायित्व

किसी जमाने में राजतंत्र का प्रभाव प्रजा की सुरक्षा तक सीमित था। बाहर के आक्रमणकारियों से युद्ध और भीतर के चोर, डाकू, दुष्ट, दुराचारियों को दंड प्रायः इतना ही कर्त्तव्य राजा लोग निबाहते थे। उन्हीं प्रयोजनों के लिए शस्त्र सज्जा, सेना जुटाए रहते थे। उस सुरक्षात्मक शासन व्यवस्था का व्यय भार प्रजाजन टैक्सों के रूप में अदा करते थे। जनमानस को सुव्यवस्थित और लोक प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने का काम धर्मतंत्र संभालता था। शिक्षा, चिकित्सा, लोकमंगल के व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों का संचालन संत-मनीषियों द्वार संपन्न होता था। उनका व्यय भार जनता श्रद्धासिक्त दान-दक्षिणा के रूप में पूरा करती थी। राजकोष में जो पैसा बच जाता था, वह उन्हीं धर्म पुरोहितों को दे दिया जाता था। वे समय और आवश्यकता के अनुरूप जिन कार्यों में उचित समझते थे, उस दान धन का उपयोग करते थे। उस पर कोई नियंत्रण प्रतिबंध इसलिए नहीं था कि दान के श्रद्धासिक्त धन का श्रेष्ठतम उपयोग क्या किया जाए, किस तरह किया जाए, इसका सर्वोत्तम निर्णय वे धर्म पुरोहित स्वयं ही कर सकने में समर्थ थे।

समय की गति ने धर्मतंत्र को दुर्बल कर दिया और निकम्मा भी। राजतंत्र की परिधि बढ़ती गई। अब शासन केवल सीमा सुरक्षा और अपराधियों को दंड देने तक सीमित नहीं रहा। उसका क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते जीवन के हर क्षेत्र और समाज के हर कार्य के साथ जुड़ता चला आ रहा है। ऐसी दशा में सरकार का अधिक परिष्कृत होना आवश्यक है। अन्यथा उसमें घुसी हुई विकृतियाँ सारी प्रजा की गतिविधियाँ विकृत कर देंगी। राजनीति से कोई सीधा संबंध रखे या न रखे पर उसे इतना ध्यान तो रखना ही होगा कि शासन का

स्तर और स्वरूप भ्रष्ट न होने पावे। इससे कम सर्तकता रखे बिना आज का नागरिक कर्त्तव्य पूरा नहीं होता। इस संदर्भ में हमें वोट का अधिकार बहुत ही सावधानी से बरतना चाहिए और हर समीपवर्ती को इस राष्ट्रीय अमानत का श्रेष्ठतम उपयोग पूरी समझदारी और दूरदर्शिता के साथ करने के लिए सजग करना चाहिए। चुनाव के समय बरती गई उपेक्षा, अन्यमनस्कता जन समाज के भाग्य-भविष्य के साथ खिलवाड़ ही कही जाएगी। हमें चरित्रवान, आदर्शवादी, लोक सेवी और परिष्कृत दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों को ही वोट देना चाहिए। भ्रष्ट लोग चुनाव के समय जन साधारण को प्रलोभन-बहकावे एवं भ्रांतियों में उलझाकर वोट ले जाते हैं और चुने जाने पर अपने स्वार्थों के लिए शासन तंत्र का दुरुपयोग करके ऐसी भ्रष्ट परंपराएँ, रीति-नीतियाँ चला देते हैं जिनका भारी दुष्परिणाम देश को भोगना पड़ता है।

शासन के द्वारा प्रजा की भौतिक समस्याओं का समाधान कैसे किया जाए, इस पर विचार करना राजनीति वेत्ताओं के लिए छोड़ देते हैं। लोक मानस के स्तर को अत्यधिक महत्व देने वाले और उसे ही समस्त परिस्थितियों का जनक मानने वाले हमारे जैसे लोगों की अधिक दिलचस्पी इस बात में है कि शासन के हाथ में चले गए जनमानस को प्रभावित करने वाले साधनों का दुरुपयोग न होने पावे, वस्तुतः यह विषय धर्मतंत्र का था। जन स्तर पर मनीषियों, तत्त्वदर्शियों और लोकसेवियों द्वारा यह क्षेत्र सँभाला जाना चाहिए था। पर दुर्भाग्य का अंत नहीं। धर्म पुरोहित जब स्वयं राजनेताओं की तुलना में व्यक्तित्व की दृष्टि से पिछड़ गए तो किस मुँह से उनके हाथ में लोक मानस के निर्माण की बात सौंपी जाए। परंतु अभी भी उनके हाथ में बहुत कुछ है। करोड़ों व्यक्ति उनके आगे माथा टेकते और वचन सुनते हैं। इस श्रद्धा को वे चाहते तो इस स्थिति में ही सृजन की दिशा में नियोजित कर सकते थे, पर वहाँ भी पोल ही पोल है। ऐसी दशा में यह माँग तो नहीं की जा सकती कि वर्तमान धर्मपुरोहितों को धर्मतंत्र से संबंध रखने वाले संदर्भ सौंप दिए जाएँ पर इतना अवश्य है कि हमें मनीषियों का एक मंच

बनाना अवश्य पड़ेगा, जो लोक मानस को प्रभावित करने वाले तथ्यों को सरकार द्वारा दुरुपयोग होने से बचाए और स्वयं संगठित रूप से जन स्तर पर उन भाव-प्रवृत्तियों को संभाले जो समस्त प्रकार की परिस्थितियों के लिए मूलत: उत्तरदायी हैं।

शिक्षा का इस दृष्टि से पहला स्थान है। शिक्षा प्रणाली निस्संदेह लोकमानस को बहुत हद तक प्रभावित करती है। प्रगतिशील राष्ट्रों ने अपनी प्रजा की मनोदशा अभीष्ट दिशा में ढालने के लिए शिक्षा पद्धति को बदला और ऐसा सांचा खड़ा किया जिसमें पीढ़ियाँ ढलती गईं। जर्मनी, रूस, चीन, जापान आदि देशों ने अपनी प्रजा को एक खास दिशा में ढाला है, इसके लिए सरकारों ने सबसे अधिक ध्यान अपनी शिक्षा प्रणाली पर केंद्रित किया है। पाठ्यक्रमों के साथ विष या अमृत घोला जा सकता है और उसके प्रभाव से लोकरुचि में अभीष्ट परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकता है। यदि पाठ्यक्रमों में अमृत घोला जा सके तो विद्यालयों का वातावरण, कार्यक्रम, व्यवहार, आचार सभी कुछ अभीष्ट स्तर के ढल सकते हैं और अगले दिनों राष्ट्र का उत्तरदायित्व संभालने वाले छात्रों को जैसा चाहिए वैसा बनाया जा सकता है।

यह मानना होगा कि अपनी सरकार इस दिशा में उतनी सजग नहीं जितनी उसे होना चाहिए। यदि दूरदर्शिता पूर्वक इस क्षेत्र को संभाला गया होता तो आज शिक्षितों की बेकारी और उच्छृंखलता से उत्पन्न जो विभीषिका चारों ओर दीख पड़ रही है, वैसी परिस्थिति निर्मित न होती। तब ध्वंस में लगे हुए व्यक्तित्व सृजन में संलग्न होकर परिस्थितियों में सुख-शांति के तत्त्व बढ़ा रहे होते। हमें सरकार पर शिक्षा प्रणाली बदलने और सुधारने के लिए दबाव डालना चाहिए क्योंकि उसका सीधा प्रभाव जनमानस के स्तर पर पड़ता है। समूची राजनीति में किसी की पहुँच या दिलचस्पी न भी हो तो भी विचारणा को प्रभावित करने वाले तथ्यों की उत्कृष्टता न बिगड़ने देने वाली बात को तो ध्यान में रखना ही चाहिए।

हमारे प्रयत्न सरकार को यह बताने और दबाने के लिए अधिक तीव्र होने चाहिए कि वह इस देश की परिस्थितियों का

हल कर सकने वाली शिक्षा पद्धति प्रस्तुत करे। यह कैसे किया जाए, उसके लिए हम जन स्तर पर कुछ नमूने पेश करके अधिक प्रभावशाली ढंग से अपना सुझाव पेश कर सकते हैं, मथुरा का युग निर्माण विद्यालय इसी का नमूना है, उसमें (१) औसत जीवन में काम आने वाली भाषा, गणित, भूगोल, स्वास्थ्य, सामान्य कानून आदि की कामचलाऊ सामान्य जानकारी (२) व्यक्ति और समाज की वर्तमान समस्याओं के कारण और समाधान प्रस्तुत करने वाली विचारणा और (३) शिल्प, गृह उद्योग, मरम्मत, कृषि, पशुपालन, सहकारिता, मितव्ययता जैसे अर्थ साधनों की शिक्षा दी जाती है। इन तीनों विषयों का सम्मिश्रण स्वरूप एक पाठ्यक्रम के रूप में विकसित किया गया है। इसमें उन तथ्यों का समावेश है जो भारतीय शिक्षा पद्धाति का नया ढांचा खड़ा करने में मार्गदर्शक हो सकते हैं। छात्रावासों में रखकर एक विशेष वातावरण में शिक्षार्थियों को किस प्रकार ढाला जा सकता है, उसका अभिनव प्रयोग कोई भी शिक्षा प्रेमी मथुरा आकर देख सकता है और यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि अपने देश के लिए शिक्षा प्रणाली का विकास किस आधार पर करना फलप्रद हो सकता है।

सामाजिक प्रयत्नों के रूप में अध्यापक वर्ग कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर शिक्षण के साथ–साथ इस बात का प्रयत्न कर सकता है कि श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण कैसे हो और छात्रों में सत्प्रवृत्तियाँ कैसे पनपें? स्कूलों में जो कमी रह जाती है उसकी पूर्ति के लिए जन स्तर पर पूरक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। इन दिनों अपना प्रयत्न यही चल रहा है। पुरुषों के लिए पाठशालाएँ और महिलाओं को अपराह्न शालाएँ चलाने के लिए अपना जो आंदोलन चला है, उसमें इस बात की संभावना विद्यमान है कि प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली में रहने वाली कमी को इन पूरक पाठशालाओं द्वारा संपन्न किया जा सके। निरक्षरता निवारण के लिए प्रौढ़शिक्षा के प्रयत्न खड़े करके अभाव की आंशिक पूर्ति भी की जा सकती है और प्रयोग की महत्ता प्रत्यक्ष अनुभव कराके शासन को इस बात के

लिए मनाया-दबाया भी जा सकता है कि वह सुधार की दिशा में किस तरह सोचे और किस तरह बदले।

स्कूली शिक्षा के साथ विद्या का वह सारा क्षेत्र भी महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए जो लोक मानस को प्रभावित कर सकने में समर्थ है। साहित्य भी एक प्रकार का प्रशिक्षण ही है जिसके आधार पर लोकमानस का स्तर गिराया या उठाया जा सकता है। इस क्षेत्र में भी अपना दुर्भाग्य पीछा नहीं छोड़ रहा है। लेखक जो लिख रहा है, प्रकाशक जो छाप रहा है, बुकसेलर जो बेच रहा है, उसे ध्यानपूर्वक देखा-परखा जाए तो पता चलेगा कि इसमें से अधिकांश साहित्य लोकमानस को विकृत करने वाला ही भरा पड़ा है। कामुकता भड़काने में साहित्य ने अति कर दी है। उपन्यास, कथा, कहानी, कविता, विवेचना आदि में ऐसे ही संदर्भ भरे रहते हैं, जिनसे व्यक्ति की कामुक-पशुता भड़के और उसके मस्तिष्क में यौन आकांक्षाओं के सपने भरे रहें। पत्र-पत्रिकाओं के मुख्य पृष्ठों पर जैसे चित्र छपते हैं और भीतर जो विषय रहते हैं, उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें लोक मंगल के लिए निकाला जा रहा है। इस प्रयत्न का परिणाम नारी के प्रति अपवित्र दृष्टि, व्यभिचार, दाम्पत्य-जीवन की अव्यवस्था आदि विभीषिकाओं के रूप में सामने आ रहा है। व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दिन-दिन पतित होता चला जा रहा है। कामुकता भड़काने वाले साहित्य के बाद जासूसी, तिलस्मी, जादूगरी, भूत-पलीत तथा अन्य प्रकार के भ्रम जंजाल फैलाने वाली, दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देने वाली पुस्तकों से बाजार पटा पड़ा मिलेगा।

जो चीज तैयार की जाएगी आखिर वह खपेगी ही और अंततः उसका प्रभाव पड़ेगा ही। साहित्य क्षेत्र में जो बीज बोये जा रहे हैं, उनका प्रभाव बौद्धिक भ्रष्टता के रूप में निरंतर सामने आता चला जा रहा है। सरकार का कर्त्तव्य है कि इसे रोके। प्रजातंत्रीय नागरिक अधिकारों का मतलब यह नहीं है कि समाज का सर्वनाश करने की खुली छूट लोगों को मिल जाए। श्रेष्ठ साहित्य सृजा जाए, उसके लिए सरकारी और गैर सरकारी सहयोग-प्रोत्साहन मिलना चाहिए। पर जिस साहित्य से मानवीय

दुष्प्रवृत्तियाँ भड़कने की आशंका है, उस पर नियंत्रण भी रहना चाहिए। कानून से यह विनाश रोका जा सकता है। ऐसे साहित्य के लिए कागज मिलने पर रोक लग जाए या दूसरे प्रतिबंध लग जाएँ तो घृणित साहित्य के सृजन में जो बुद्धि, संपत्ति और मेहनत लगती है, उसे बचाकर उपयुक्त दिशा में प्रयुक्त किया जा सकता है।

शिक्षा, साहित्य के बाद लोकमानस को प्रभावित करने वाला माध्यम 'कला' है। संगीत, गायन, अभिनय, नृत्य, नाटक, प्रहसन आदि केवल मनोरंजन ही नहीं करते वरन उनके माध्यम से कोमल भावनाओं को स्पर्श करने और उभारने का काम भी बड़ी खूबी के साथ होता है। सिनेमा का क्षेत्र इन दिनों बहुत व्यापक हो गया है। अब लोक रंजन की प्रक्रिया सिनेमा के इर्द-गिर्द जमा होती चली जा रही है। लाखों लोग उसे रुचिपूर्वक देखते हैं। प्रगतिशील देशों ने सिनेमा की रचनात्मक प्रवृत्तियों को विकसित करने के लिए दिशा दी। सरकारों ने उस तरह के नियंत्रण लगाए और निर्देश दिए कि फिल्म जनमानस को ऊँचा उठाने वाली बनें। देशभक्त कलाकारों ने अपने नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझा और निबाहा। फलस्वरूप वहाँ का सिनेमा वरदान सिद्ध हुआ। लोकरंजन के साथ लोकमंगल जुड़ा रहने से उसका परिणाम शुभ ही हुआ। लोगों को विनोद भी मिला और विकास के लिए प्रकाश भी।

अपने यहाँ इस क्षेत्र में भी अंधकार ही है। फिल्म उद्योग को भी कामुकता भड़काने की एक सस्ती दिशा मिल गई है। लोगों की पशुता को भड़का कर आसानी से धन और ख्याति मिल सकती है- इस मान्यता ने कलाकार को सृजन का देवता बनने से रोक दिया और वह किसी भी उचित-अनुचित तरीके से लाभ कमाने के लिए मुड़ गया। इसे राष्ट्र का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। इससे भी अधिक कष्टकारक है, सरकार की उदासीनता। जब अन्य अपराधों को रोकने के लिए कानून बन सकते हैं और अपराधियों को दंड देने के विधान बन सकते हैं तो कला के माध्यम से लोक मानस को विकृत करने वाले कुरुचिपूर्ण दुष्प्रयत्नों को क्यों नहीं रोका जाना चाहिए। सरकार चाहे तो इस स्तर के प्रयत्नों को रोकने के लिए

सामान उपलब्ध न होने देने से लेकर सेंसर की कठोरता तक ऐसे अनेक उपाय कर सकती है, जिनसे लोकमानस को विकृत करने वाली प्रवृत्तियाँ रुक सकें।

सभी शक्ति साधनों की तरह कला का भी अपना ऊँचा स्थान है। शस्त्र रखने के लायसेंस केवल संभ्रांत नागरिकों को मिलते हैं, इसी प्रकार कला का प्रयोग करने की सुविधा भी केवल सही व्यक्तियों को सही प्रयोजन के लिए मिलने दी जाए। मनोरंजन के समस्त साधनों पर बारीकी से नजर रखी जाए कि वे विकृतियाँ उत्पन्न करने वाले विष बीज तो नहीं बो रहे हैं। नाटक, अभिनय, सरकस, नृत्य, संगीत एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों को खुली छूट नहीं मिलनी चाहिए। उनका शालीनता के लिए ही प्रयोग हो सके, ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए। चित्र प्रकाशन भी इन्हीं कला उद्योगों के अंतर्गत आता है। अर्धनग्न जैसी, वैश्याओं जैसी कुरुचि पूर्ण भावभंगिमा भरी तस्वीरों की जो बाढ़ आ रही है, उसके साथ जुड़े हुए दुष्प्रभावों को समझा जाना चाहिए और उसको रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। लाउडस्पीकरों के माध्यम से बजने वाले गंदे रिकार्ड कोमल मस्तिष्क वालों को दिनभर अवांछनीय प्रेरणा देते रहते हैं। रेडियो पर भी ऐसे ही अनुपयुक्त गीत अक्सर आते रहते हैं। सरकार चाहे तो इस प्रकार के कुरुचिपूर्ण प्रचार एक इशारे में बदल सकती है। उसे इस बात का औचित्य समझना ही चाहिए।

राजनीति का आधार धर्मनीति ही बने

काश! आज की दुनिया का नेतृत्व किन्हीं महापुरुषों के हाथ होता रहा होता; काश! गांधी, ईसा, बुद्ध, सुकरात, कन्फ्यूशियस सरीखी आत्माओं के हाथों शासनाध्यक्षों का कार्य संचालित हुआ होता तो दुनिया आज की स्थिति में पड़ी न रहकर स्वर्ग बन गई होती। काश! राजनीति ने कूटनीति (धूर्तता) का रूप छोड़कर धर्मनीति बनना स्वीकार किया होता तो आज सर्वत्र शांति, प्रेम और आनंद की ही निर्झरणी बह रही होती। संपन्नता, शिक्षा, कला, विज्ञान एवं चतुरता बढ़ रही है, पर चरित्रबल घट रहा है। संसार में

शासन तंत्र अधिक शक्तिशाली बनते चले जा रहे हैं। पर उनकी वह विशेषता घट रही है जिसके प्रभाव से जनमानस में प्रेरणा और आशा का संचार होता है। आज जबकि जनजीवन के सारे साधन राजनीति के प्रभाव क्षेत्र में चले जा रहे हैं तो यह आवश्यक है कि उसके नेता और संचालकों का व्यक्तित्व, चरित्र एवं भावना स्तर इतना ऊँचा हो कि दंड भय से नहीं श्रद्धा से अवनत होकर लोग उनका अनुसरण करने लग जाएँ। इसी से जन-जीवन में सच्ची प्रगति का संचार हो सकता है। यदि यह क्षेत्र दुर्बल बना रहा, बिल्ली के गले में घंटी न बंध सकी तो भ्रष्टाचार की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहेगी और सरकार जनता का कसूर बताती रहेगी। समास्या जहाँ की तहाँ उलझी पड़ी रहेगी। अनीति को रोकना और साधनों को बढ़ाना शासन का कार्य है। सबको समान अवसर तथा समान न्याय प्राप्त हो ऐसी स्थिति उत्पन्न करना राजकीय उत्तरदायित्व माना गया है। इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए राज्य कर्मचारियों को न्याय और कानून के प्रति नितांत निष्ठावान, निर्लोभ, निष्पक्ष एवं कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। कानून तो पुस्तकों में बंद रहते हैं। उनका पालन करना और कराना राज्य कर्मचारियों का काम है। उनका चरित्रवान होना ही प्रजा की सुख-शांति की गारंटी हो सकती है। यदि यह शासक वर्ग अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों की उपेक्षा करेगा तो प्रजा का न्याय पर से विश्वास उठ जाएगा और हर क्षेत्र में अनीति पनपेगी तथा अधिकारियों को अपने पक्ष में करके दुष्ट लोग जनता को संत्रस्त करेंगे। अपराधों की रोकथाम के समस्त उपाय एक ओर और राज्य कर्मचारियों की कर्त्तव्य परायणता को एक ओर रखकर तोला जाए तो राज्य कर्मचारियों की ईमानदारी ही अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। इसके अभाव में नाना प्रकार की योजनाएँ बनती-बिगड़ती रह सकती हैं पर जनहित्त का, समस्या का ठीक समाधान न हो सकेगा।

बहुत समय से अनेक विचारशील विद्वान यह बताते रहे हैं कि सुरक्षा की समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रीय चरित्र की ही सबसे अधिक आवश्यकता है। पड़ौसी देशों के आक्रमणकारी

इरादों को असफल करने के लिए जहाँ सुशिक्षित सेना और हथियारों की आवश्यकता है; वहीं देशभक्ति, स्वाभिमान, दृढ़ता, त्याग भावना, उच्च चरित्र की भी नितांत आवश्यकता है। शक्ति का वास्तविक स्रोत भावनाओं की प्रबलता, दृढ़ संकल्प, आदर्शनिष्ठा और उच्च चरित्र में सन्निहित रहता है। भूतकाल में इन्हीं गुणों की कमी से हमें विदेशी आक्रमणों का शिकार होकर परास्त होना पड़ा है। यदि इन दोषों को सुधार लिया जाए तो भारत का प्रत्येक नागरिक टैंकों, तोपों और जहाजों की शक्ति से भी अधिक शक्तिशीली सिद्ध हो सकता है और उसके आगे पड़ौसी देश बेचारा तो क्या, संसार की समस्त युद्ध शक्तियाँ इकट्‌ठी होकर भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। सुरक्षा के लिए इसी सच्ची शक्ति का जागरण अभीष्ट है।

सरकार के सामने अनेकों रचनात्मक काम करने को पड़े हैं। उनकी सफलता इस बात पर निर्भर रहेगी कि राज्य कर्मचारी कितनी ईमानदारी से उन्हें कार्यान्वित करते हैं। देशभक्ति, लोकहित और सामूहिकता की भावना यदि जनमानस में जागृत रहेगी तो उन सरकारी योजनाओं को प्रजा का आवश्यक सहयोग एवं समर्थन मिल सकेगा। यदि लोगों के मनों में सीमित स्वार्थ ही समाया रहे तो अपने मतलब से मतलब की बात के अतिरिक्त और कुछ कोई सुनना-समझना ही नहीं चाहेगा, तब राष्ट्र की प्रगति कैसे संभव होगी? नागरिक कर्त्तव्यों को पालन करने की इच्छा यदि लोगों में न हो तो सरकारी योजनाओं को, राष्ट्रीय संपत्ति को क्षति पहुंचाने वाले कार्य ही होते रहेंगे। सरकार कितने ही अच्छे कार्य करना चाहती है, उनके लिए योजनाएँ बनाती है और खरच भी करती है, पर जन सहयोग के अभाव में स्वप्न साकार नहीं हो पाते। एक हाथ से ताली नहीं बजती। केवल शासन के द्वारा ही सब कुछ नहीं हो सकता। बुराइयों के दूर करने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए जन सहयोग भी चाहिए। यह सहयोग कर्त्तव्यनिष्ठ, देशभक्त और नागरिक उत्तरदायित्वों को समझने वाले लोग ही कर सकते हैं। जिन लोगों में यह भावना विकसित नहीं हो पाई उनकी गणना नर पशुओं में ही की

जा सकती है और वे केवल सरकारी प्रयत्नों से ही प्रगतिशील नहीं बन सकते। आर्थिक अनुदान या अन्य साधन-सामग्री की जनकल्याण के लिए जितनी आवश्यकता है उससे असंख्य गुनी आवश्यकता इस बात की है कि जनमानस में कर्त्तव्य के प्रति, समाज के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। यदि यह भावनात्मक विकास न हो सका तो बाहरी विकास योजनाओं का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता।

राजनीति आज की एक प्रचंड शक्ति है जो गुमराह हो सकती है और गुमराह कर भी सकती है। आज ऐसा ही कुछ हो भी रहा है। अतः इस पर नीति और धर्म का नियंत्रण रहना चाहिए, अंकुश होना चाहिए। प्रजा और शासकों में चरित्र के प्रति जितनी गहरी आस्था होगी उतना ही इस शक्ति का ठीक उपयोग हो सकेगा और उसी आधार पर हमारी सुरक्षा, समृद्धि, प्रगति एवं शांति का मार्ग प्रशस्त होगा। यह तभी संभव हो सकेगा जब धर्मनीति को राजनीति का आधार बनाया जाए। धर्म का सीधा संबंध मानवीय कर्त्तव्यों से है और इसे इसी अर्थ में समझा जाए।

□

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।